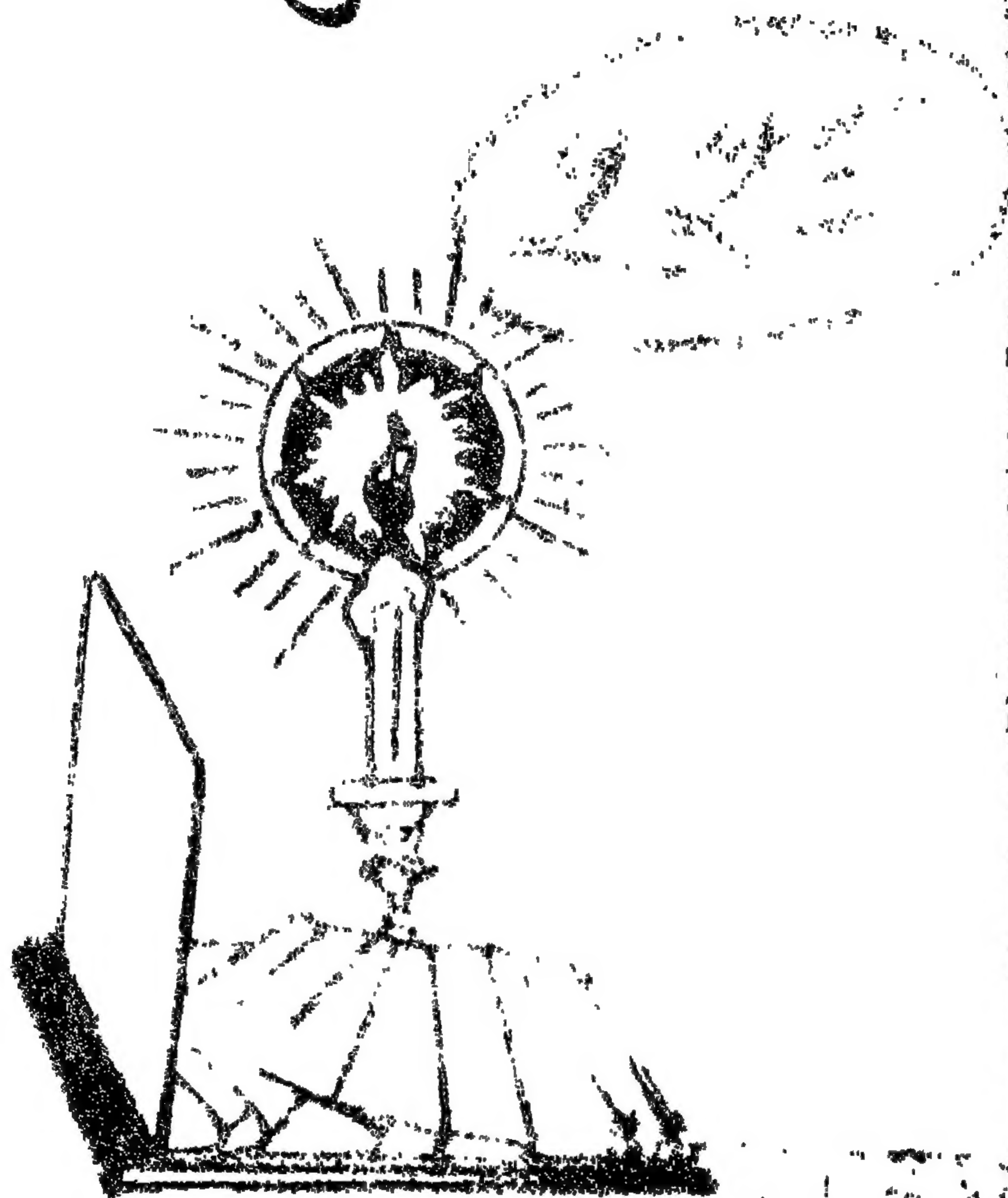
विचार कुसमांजलि



राजनाथ पाण्डे एम० ए०

विचार कुसुमांजलि

[बी० ए० तथा बी० एस सी० परीक्षा
के लिये स्वीकृत पाठय-पुस्तक]

संकलन कर्ता

श्री राजनाथ पाण्डेय एम्० ए०,

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय

—: * :—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

प्रथमबार] १९५० [मूल्य २)

मुद्रक—
मुन्शी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

निवेदन

"विचार-कुसुमांजलि" एक विशेष ध्येय से तैयार किया हुआ गद्य-संग्रह है। विभिन्न-भाषा-भाषी विद्यार्थियों की योग्यता और आवश्यकता को ध्यान में रखकर उनके लिये इसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक की एक झाँकी इन पृष्ठों द्वारा मिल जाती है। साथ ही काल-क्रम से हिन्दी गद्य के विकास का भी थोड़ा परिचय मिलता है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य प्रादेशिक भाषाओं के कतिपय प्रख्यात साहित्य मनीषियों की कृतियों की भी कुछ बानगी यहाँ उपलब्ध है। संक्षेप में हिन्दी राष्ट्रभाषा के गौरव तथा व्यापकता का कुछ आभास इस संग्रह द्वारा मिलता है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक से विद्यार्थियों को लाभ होगा और हिन्दी-साहित्य के अनेक अनमोल रत्नों को परखने और सहारने की उत्कंठा उनमें जाग्रत होगी।

सागर विश्वविद्यालय
सागर

राजनाथ पांडेय

विषय-सूची

विचार-कुसुमांजलि

१—सनातन सत्य सिद्धांत

[स्वामी दयानंद सरस्वती]

सर्वतंत्र सिद्धांत अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म को—जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी—इसीलिये कि उसका विरोधी कोई भी न हो सके, सनातन नित्य धर्म कहते हैं। अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुये जन जिसको अन्यथा जाने व माने उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान नहीं करते। किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकार, पक्षपात रहित विद्वान मानते हैं वही सबको मंतव्य और जिसको नहीं मानते वह अमंतव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्य शास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमुनि पर्यंतों के माने हुये ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मंतव्य उसी को मानता हूँ जो कि तीनों काल में सबको एक सा मानने योग्य है।

मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतांतर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसको मानना

मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त में प्रचरित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता किन्तु जो जो, आर्यावर्त वा अन्य देशों में अधर्म युक्त चाल-चलन हैं उनका स्वीकार और जो धर्म युक्त बातें हैं उनका त्याग न किया है न करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुण रहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण; और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके अन्याय-कारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें किन्तु इस मनुष्य-पन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूँ :—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ भर्तृहरि ॥१॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापिहेतोः।

धर्मो नित्यः सुख दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ महाभारत ॥२॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ मनुस्मृति ॥३॥
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवमानः ।
येना क्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ॥ उपनिषद ॥४॥

अर्थात्

चाहे नीति-निपुणजन निन्दा करें वा स्तुति करें; लक्ष्मी चाहे आये वा स्वच्छन्द चली जाये; चाहे मृत्यु ही अभी वा कुछ समय बाद आ जाये किन्तु धीर जन के पद न्याय के पथ से विचलित होकर अलग नहीं हो सकते ॥१॥

एक बार भी, न काम के प्रभाव से, न भय से, न लोभ से, यहाँ तक कि जीवन के ही मोह से मनुष्य को धर्म नहीं तजना चाहिये। क्योंकि धर्म ही नित्य है। सुख-दुख अनित्य हैं। और जीव नित्य है किन्तु जीव की अभिव्यक्ति के कारण (शरीरादि) अनित्य ही हैं ॥२॥

सुहृदता (मैत्री) का धर्म एक यही है कि मरण में भी अनुसरण हो। क्योंकि शेष सब कुछ यहाँ तक कि शरीर भी नाश हो ही जाता है (केवल यही धर्म बचता है) ॥३॥

सत्य अकेला विजयी है असत्य नहीं। सत्य से ही देवों का पंथ चौड़ा होता है। उस सत्य के द्वारा आप्तकाम (अपना

अभीष्ट प्राप्त किये हुये) ऋषिगण जिस स्थान को प्राप्त करते हैं वही स्थान परम आश्रय है ।

नहीं है सत्य से परे कोई भी दूसरा धर्म । नहीं है असत्य को छोड़ दूसरा कोई पातक । सत्य से परे ज्ञान भी कोई नहीं है । इसलिये सत्य का ही आचरण करो ।।४।।

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सब को निश्चय रखना योग्य है । अब मैं जिन जिन पदार्थों को जैसा जैसा मानता हूँ उन उन का * वर्णन संक्षेप से यहाँ करता हूँ । इनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थ में अपने अपने प्रकरण में कर दिया है :—

१—ईश्वर जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिसके गुण, कर्म स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्व व्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान् , दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है मैं उसी को परमेश्वर मानता हूँ ।

२—जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त, ईश्वराज्ञा तथा वेदों से अविरुद्ध है उसको "धर्म" और जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि युक्त, ईश्वराज्ञा भंग तथा वेद विरुद्ध है मैं उसको अधर्म मानता हूँ ।

---

* स्वामी जीने ५१ पदार्थों का बखान किया है किन्तु हमने केवल १४ हा यहाँ लिये हैं । शेष पदार्थों का पूर्ण वर्णन "सत्यार्थ प्रकाश" में देखने की कृपा करें ।

३—"अनादि" पदार्थ तीन हैं, एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।

४—सर्व दुखों से छूट कर बन्धन रहित, सर्व व्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना और नियत समय पर्यंत मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना "मुक्ति" है।

५—"मुक्ति के साधन", ईश्वरोपासना, अर्थात् योगाभ्यास धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्य, विद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि "मुक्ति के साधन" हैं।

६—"अर्थ" वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय। जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको "अनर्थ" कहते हैं।

७—"शिक्षा" जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं।

८—जो सांगोपांग वेद विद्याओं का अध्यापक सत्य शिक्षा का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह "आचार्य" कहाता है।

९—"शिष्य" उसको कहते हैं जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला हो।

१०—धर्माचरण पूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और

असत्य का परित्याग करना "शिष्टाचार" है। जो इसको करता है वह "शिष्ट" कहाता है।

११—जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़े उसके करने को परोपकार कहता हूँ।

१२—शरीर के संयोग का नाम "जन्म" और वियोगमात्र को "मृत्यु" कहते हैं।

१३—नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना "विवाह" कहाता है।

१४—जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना, ईश्वर को सर्वव्यापक और अपने को व्याप्य जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना "उपासना" कहाती है।

ये संक्षेप में स्वसिद्धान्त दिखलाये हैं। जो जो सबको समान माननीय है, जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा, और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ, और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उनको मैं प्रसन्न नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्यमत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके सबको सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त

सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु ॥

प्रश्न

१—शास्त्र, आप्त, धर्म तथा आचार्य शब्द का क्या अर्थ है ?

२—स्वामी दयानन्द सरस्वती से राष्ट्र और धर्म का कैसा हित हुआ है ?

२—तीन बार 'द'

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार]

एक समय देवता, मनुष्य और असुर सब पितामह प्रजापति ब्रह्माजी के पास शिष्य-भाव से विद्या सीखने गये, एवं नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीत जाने पर उन्होंने उपदेश ग्रहण करना चाहा।

सबसे पहिले देवताओं ने जाकर प्रजापति से प्रार्थना की "भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।" प्रजापति ने उत्तर में एक ही अक्षर में कह दिया 'द'। स्वर्ग में भोगों की भरमार है, भोग ही देवलोक का सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रिय-भोगों में लगे रहते हैं, अपनी इस अवस्था पर विचार कर देवताओं ने 'द' का अर्थ 'दमन' (इन्द्रिय-संयम) समझा और अपने को कृत कृत्य मान कर प्रजापति को प्रणाम कर वे वहाँ से चलने लगे। प्रजापति ने पूछा "क्यों, मेरे उपदेश किये हुए अक्षर का अर्थ तो तुम समझ गये न!" देवताओं ने कहा "जी समझ गये; आपने हम विलासियों को इन्द्रिय-दमन करने की आज्ञा की है।" प्रजापति ने कहा "तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहने का यही अर्थ था। जाओ, परन्तु मेरे उपदेश के अनुसार चलना तभी तुम्हारा कल्याण होगा।"

तदन्तर मनुष्यों ने प्रजापति के पास जाकर कहा—"भगवन्

हमें उपदेश कीजिये।" प्रजापति ने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। मनुष्यों ने विचार किया हम कर्म-योनि होने के कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थ संग्रह करने ही में लगे रहते हैं। इसलिये प्रजापति ने हम लोभियों को 'दान' करने का उपदेश किया है। यह निश्चय कर वे अपने को सफल मनोरथ मान कर चलने लगे। तब प्रजापति ने उनसे पूछा "तुम लोग मेरे कथन का अर्थ समझ कर जा रहे हो न?" संग्रह-प्रिय मनुष्यों ने कहा "जी हाँ, समझ गये। आपने हमें दान करने की आज्ञा दी है।" यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—"हाँ मेरे कहने का यही अर्थ था। तुमने ठीक समझा है। अब इसके अनुसार चलना तभी तुम्हारा कल्याण होगा।"

इसके पश्चात् असुरों ने प्रजापति के पास जाकर प्रार्थना की "भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।" इनको भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का ही उपदेश किया। असुरों ने समझा हम लोग स्वभाव से ही हिंसावृत्ति वाले हैं। क्रोध और हिंसा हमारा नित्य व्यापार है। अतएव प्रजापति ने हमें इस दुष्कर्म से छुड़ाने के लिये कृपा करके जीवमात्र पर दया करने का ही उपदेश किया है। यह विचार कर वे जब चलने को तैयार हुए तब प्रजापति ने यह सोचकर कि इन लोगों ने मेरे उपदेश का अर्थ समझा या नहीं, उनसे पूछा, "तुम जा तो रहे हो परन्तु बताओ, मैंने तुम्हें क्या करने को कहा है?" तब हिंसाप्रिय असुरों ने कहा "देव! आपने हम हिंसकों को 'द' कह कर प्राणिमात्र पर 'दया' करने की आज्ञा दी है। यह सुन कर प्रजापति ने कहा "वत्स! तुमने ठीक समझा। मेरे कहने का यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोड़ कर प्राणिमात्र पर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।"

देव दनुज मानव सभी लहैं परम कल्यान।
पालैं जो 'द' अर्थ कौ दमन दया अरु दान ॥

प्रश्न

१—उपनिषद का क्या अर्थ है ? कुछ प्रमुख उपनिषद कौन कौन हैं ?

२—किसी एक उपनिषद की कोई विख्यात कथा क्या आप कह सकते हैं ?

३—राजकुमारों की विश्वामित्र के साथ वन-यात्रा

[श्री द्वारकाप्रसाद शर्मा]

विश्वामित्र जी के साथ कमललोचन श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण के जाने के समय शीतल, मन्द और सुगन्धियुक्त पवन बहने लगा। अयोध्या में जगह जगह राजकुमारों के जाते समय शंखध्वनि की गई और नगाड़े बजाये गये। आगे आगे विश्वामित्र, उनके पीछे यशस्वी रामचन्द्र और सबके पीछे सिर पर सुन्दर काकुल धारण करने वाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण चले जा रहे थे। बड़े रूपवान और बलवान वे दोनों भाई पीठ पर तूणीर और हाथों में धनुष लिये दशों दिशाएँ सुशोभित करते मुनि के पीछे ऐसे चले जा रहे थे मानों ब्रह्मा के पीछे अश्विनीकुमार जा रहे हों।

अयोध्या से छः कोश दूर सरयू के दक्षिण तट पर पहुँच कर विश्वामित्र ने मधुर वाणी में श्री रामचन्द्र से कहा "वत्स! जल से शरीर शुद्ध कर डालो क्योंकि शरीर शुद्ध हो जाने पर हम तुम्हें 'बला' और 'अतिबला' विद्यायें पढ़ायेंगे जिनके प्रभाव से तुम्हें कभी थकावट नहीं व्यापेगी, शरीर कभी ज्वराक्रान्त नहीं होगा और तुम्हारे रूप की कभी हानि न होगी। इनके प्रभाव से सौभाग्य, दाक्षिण्य, ज्ञान और चतुराई में तुम्हें तीनों लोकों में कोई भी न पावेगा और हे राघव! इन दोनों विद्याओं के पढ़ लेने से तुम्हारा अतुल यश सर्वत्र फैल जावेगा।"

यह सुन श्री रामचन्द्र जी ने जल से आचमन कर पवित्र और प्रसन्न चित्त हो विश्वामित्र से उन विद्याओं को सीखा। इसके अनन्तर दोनों भाइयों ने विश्वामित्र की चरण सेवा की और सरयू के तीर विश्वामित्र के मधुर वचन सुनते हुए तृणों की शय्या पर वह रात आनन्द पूर्वक बिताई। फिर बड़े प्रातः-काल ही विश्वामित्र जी बोले "हे राजकुमार! अब सवेरा होने ही को है, अतः उठ बैठो और प्रातः कृत्य कर डालो।" आह्निक कृत्य पूरा कर राजकुमारों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ तपस्वी विश्वामित्र को प्रणाम किया और आगे चलने को तैयार हुए।

उनको साथ लिये हुए विश्वामित्र उस स्थल पर पहुँचे जहाँ श्री गंगा जी और सरयू जी का शुभ संगम है। वहाँ वे ऋषियों के परम पवित्र अनेक आश्रम देख बहुत प्रसन्न हुए और विश्वामित्र से बोले "हे भगवन्! हम दोनों को इस परम पवित्र आश्रम का वृत्तान्त सुनने का बड़ा कौतूहल है। इसलिये कृपा करके बतलाइये कि यह आश्रम किसका है और यहाँ अब कौन पुरुष रहता है?"

राजकुमारों की यह बात सुन विश्वामित्र हँस पड़े और कहने लगे 'हे राम! कंदर्प पहिले शरीरधारी था और इस स्थान पर शिवजी निरन्तर ध्यानावस्थित हो तप करते थे। शिव जी जब विवाह करके देवताओं सहित चले आ रहे थे कंदर्प ने उनके मन में बिगाड़ उत्पन्न करना चाहा, तब शिव जी ने हुँकार करके जो अपना तीसरा नेत्र खोला तो उस दुष्ट के शरीर के अंग प्रत्यंग अलग अलग होकर बिखर गये। हे राम! तभी से उसका नाम अनंग पड़ा और उसके भागने पर उसके अंग जहाँ गिरे थे वह देश अंग देश के नाम से प्रख्यात हुआ। हे शुभ-दर्शन! आज की रात हम शिवजी के इसी परम पवित्र आश्रम

में ठहरेंगे और कल इन पुण्यतोया नदियों को पार कर आगे बढ़ेंगे।"

उस आश्रम के तपस्वी मुनि इन लोगों का आगमन जान बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने विश्वामित्र को अर्घ्य-पाद्य अर्पण करके तदनन्तर उनका तथा रामचन्द्र और लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया। सन्ध्योपासन तथा गायत्री जप आदि आवश्यक कर्म समाप्त करके सब आश्रमवासी ऋषि विश्वामित्र जी के पास एकत्र हुये। फिर वे मुनि उन्हें अपने आश्रम में लिवा ले गये। वहाँ रात बिता प्रातःकाल दोनों राजकुमार विश्वामित्र को आगे कर नदी के तट पर पहुँचे। उस आश्रम में रहने वाले ऋषिगण भी उनके साथ नदी तट तक गये और सुन्दर नाव का प्रबन्ध करके विश्वामित्र जी से बोले "अब आप. विलम्ब न कर राज-पुत्रों को लेकर नाव पर सवार हों जिससे मार्ग में (सूर्यताप आदि का) कष्ट न हो।" यह सुन विश्वामित्र ने उन ऋषियों की पूजा की और सागरगामिनी नदी के उस पार पहुँचे। जब नाव बीच धारा में पहुँची तब वहाँ जल की तरंगों के परस्पर टकराने का शब्द सुन श्री रामचन्द्र ने विश्वामित्र जी से पूछा, "महाराज! यह तुमुल शब्द जल के टकराने का हो रहा है क्या?"

श्री रामचन्द्र का यह कौतूहल पूर्ण प्रश्न सुन कर विश्वामित्र ने कहा "हे राम! ब्रह्मा ने अपने मन से कैलास पर्वत पर एक सरोवर बनाया जो मन से बनने के कारण मान सरोवर कहलाता है। ब्रह्मा के उसी मानसरोवर से निकल कर पवित्र सरयू अयोध्या होती हुई बहती है। वह इसी स्थान पर गंगा से मिलती है और इन दोनों सरिताओं के जलों के परस्पर टकराने से यह शब्द होता है। तुम इनको मनोयोग पूर्वक प्रणाम करो।" महर्षि

के ये वचन सुन राजकुमारों ने उन नदियों को प्रणाम किया। इस बीच उनकी नाव दक्षिण तट पर सहज में जा लगी। वहाँ से वे तीनों नाव से उतर कर आगे चले।

उस समय चलते चलते मार्ग में एक बड़ा भयानक निर्जन वन देख श्री रामचन्द्र जी ने विश्वामित्र से पूछा, "ओ हो! ऋषिवर, यह वन तो बड़ा भयानक दिखाई पड़ता है। इसमें झींगुर झंकार कर रहे हैं और शकुन (बाज) पक्षी बड़ी दारुण बोली बोल रहे हैं। यहाँ सिंह, व्याघ्र, वराह और हाथी भी बहुत दिखाई दे रहे हैं। धवा, असगंध, अर्जुन, बेल, तेंदुआ, पाडरी तथा बेरियों के वृक्षों से यह वन सघन और भयंकर हो गया है।" यह सुन महा तेजस्वी विश्वामित्र ने श्री रामचन्द्र जी से कहा, 'बेटा राम! मैं बतलाऊँगा कि यह वन किसका है। सुनो! किसी समय यहाँ देवलोक के समान धनधान्य से भरे-पूरे मलद और करूष नाम के दो देश बसे हुये थे। वृत्रासुर की हत्या करने से अपवित्र इन्द्र तपस्वी ऋषियों के गंगाजल से स्नान करवाये जाने पर यहीं ब्रह्म हत्या से छूट कर पवित्र और प्रसन्न हुये थे। उस समय प्रसन्न होकर उन्होंने इस देश को यह वरदान दिया कि मेरे शरीर के मल को धारण करने वाले मलद और करूष नामों से विख्यात और धनधान्य से भरे-पूरे ये दो देश तीनों लोकों में प्रसिद्ध होंगे। तदनुसार हे अरिंदम! ये दोनों मलद और करूष देश बहुत दिनों तक धनधान्य से परिपूर्ण रहे। परन्तु कुछ काल उपरान्त यहाँ एक स्वेच्छाचारिणी यक्षिणी पैदा हुई। वह सुन्द की स्त्री ताटका है और उसके शरीर में कितने ही हाथियों का बल है। उसका मारीच नाम का पुत्र इन्द्र के समान पराक्रमी है। वह बड़ी बड़ी बाहों, बड़े सिर और मुँह वाला राक्षस मारीच नित्य ही प्रजा को सताया करता है।

हे राघव ! वह दुष्टा ताटका इन दोनों भरे-पूरे मलद और करूष देशों को नित्य उजाड़ा करती है। मेरे कहने से तुम अपने बाहुबल से उस दुष्टा यक्षिणी का वध करके इस स्थान को पुनः निष्कंटक बना दो। हे राम ! उस दुष्टा के डर के मारे आने की आवश्यकता होते हुये भी यहाँ कोई नहीं आता। हे नरोत्तम ! तीनों लोकों में तुमको छोड़ ऐसा और कोई नहीं है जो उसे मार सके। ऐसी दुष्टा स्त्री का वध करने में तुम्हारे मन में घृणा उत्पन्न न होनी चाहिये क्योंकि :—

चातुर्वर्ण्यहितार्थाय कर्तव्यं राजसूनुना।
नृशंसमनृशंसं वा प्रजा रक्षण कारणात् ॥
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा।
राज्यभार नियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ॥

अर्थात्

चारों वर्णों का हितसाधन करना राजकुमार (क्षत्रिय) का कर्तव्य है। प्रजा के लिये चाहे अच्छे काम करने पड़ें चाहें बुरे। प्रजा रक्षण के कार्यों के करने में भले ही दोष या पाप ही क्यों न लगे किन्तु राज्य की रक्षा का भार उठाये हुये क्षत्रियों के लिये सब प्रकार प्रजा की रक्षा करना ही उनका सनातन धर्म है।

अतः हे राम ! इस अधर्मिणी ताटका को मारिये। उस (ताटका) में तिल भर भी धर्म नहीं है। सुना जाता है कि पहिले विरोचन राजा की सुता मन्थरा को जो पृथ्वी का नाश करना चाहती थी इन्द्र ने वध कर डाला था। इसी प्रकार हे राम ! भगवान विष्णु ने भी भृगु की पतिव्रता पत्नी और शुक्र की माता को जो इन्द्र का नाश करना चाहती थी मार डाला था। इसी प्रकार अनेक पुरुषोत्तम राजपुत्रों ने समय समय पर अनेक अधर्माचरण वाली स्त्रियों का वध किया है। अतएव तुमको

भी मेरी आज्ञा से इस दुष्टा यक्षिणी को मारने में किसी प्रकार का विचार न करना चाहिये।"

तब दृढ़व्रत श्री रामचन्द्र जी ने ऋषिप्रवर विश्वामित्र जी के ये उत्साहवर्धक वचन सुन हाथ जोड़ कर कहा, "हे मुने! अपने पिता की आज्ञा से उनकी बात रखने के लिये आपके कथनानुसार निःशंक होकर कार्य करना मेरा कर्तव्य है क्योंकि महाराज ने गुरु वशिष्ठ जी के सामने अयोध्या से प्रस्थान करते समय मुझे ऐसी ही आज्ञा दी है। अतः मैं उस आज्ञा की अवज्ञा नहीं कर सकता। मैं पिता की आज्ञानुसार आपके कहने से ताटका का वध निस्सन्देह करूँगा। मैं आपके कथनानुसार ताटका को मार कर गो-ब्राह्मण का हित साधन करने तथा इस देश के निवासियों को सुखी करने को उद्यत हूँ।"

यह कह कर धनुष हाथ में ले श्री रामचन्द्र जी ने प्रत्यंचा को टंकार कर दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाला घोर शब्द किया।

प्रश्न

१—मलद, करूष और अंग किन देशों का पुराना नाम था? उनके ये नाम क्यों पड़े?

२—वाल्मीकि मुनि के विषय में आप क्या जानते हैं? उनके काव्य की कौन कौन सी प्रमुख विशेषतायें हैं?

———

४—गुरु दक्षिणा

[आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी]

अपने भ्रातृ कुल में बहुत से कुमारों के होने से प्रसन्न होकर पितामह भीष्म ने उनकी शिक्षा का प्रबन्ध उत्तम रीति से करना चाहा। महाराज शान्तनु ने दो अनाथ ब्राह्मण बालक-बालिका को एक तालाब के किनारे से उठवा कर पाला था। उनके नाम कृप और कृपी रखे गये। कृप ने शास्त्र का भली-भाँति अभ्यास करके परशुराम से शस्त्र-विद्या भी सीखी। फिर वृष्णि, यादव आदि कुलों के कई राजकुमारों को विद्या देकर इन्होंने आचार्य की पदवी पाई थी। कृपी का विवाह प्रसिद्ध धनुर्धर द्रोणाचार्य के साथ हुआ। आचार्य द्रोण महर्षि भरद्वाज के पुत्र (या वंशज ?) थे।

पहिले कौरव राजकुमारों को कृपाचार्य शस्त्र एवं शास्त्र की शिक्षा देते थे। कुछ समय के अनंतर भीष्म पितामह की इच्छा हुई कि पौत्रों के लिये कोई प्रवीणतर गुरु बुलाया जाना चाहिये। एक दिन राजकुमार गुल्ली डंडा खेलते-खेलते नगर के एकान्त भाग में पहुँच गये और गुल्ली अकस्मात् एक निर्जल कूप में जा गिरी। उसी ओर आचार्य द्रोण विराजमान थे। जब सब राजकुमार गुल्ली निकालने के अनेक प्रयत्न करके भी विफल मनोरथ रहे तब द्रोणाचार्य को हँसी आ गई। उन्होंने कहा—"तुम लोग भरतवंशज होकर कुएँ में से एक गुल्ली नहीं निकाल सकते ?

देखो मैं ब्राह्मण होकर गुल्ली क्या एक मुंदरी तक सींकों से बेध कर बाहर निकाले देता हूँ।" इतना कहकर द्रोणाचार्य ने धनुष उठाकर सींक से गुल्ली बेध दी और दूसरी सींक से उस सींक को बेधा। इसी प्रकार बेधते हुये सींकों के ही द्वारा गुल्ली कुएँ से बाहर कर दी। यह देख राजकुमार युधिष्ठिर ने एक मुद्रिका कुएँ में डालकर बिनती की कि वह भी निकाली जाये। द्रोणाचार्य ने उसे भी गुल्ली की भाँति सींकों के ही द्वारा निकाल दिया।

यह विवरण राजकुमारों ने परम प्रसन्न होकर भीष्म पितामह को जा सुनाया। तब गांगेय ने समझ लिया कि जैसा उपयुक्त गुरु वे चाहते थे वैसा ही अकस्मात् मिल गया। अब परम प्रसन्न होकर स्वयं भीष्म पितामह द्रोणाचार्य के पास पधारे और प्रणाम करके उनका परिचय प्राप्त करने लगे। द्रोणाचार्य ने अपनी शिक्षा का वर्णन करने के अनंतर कहा कि उन्होंने पितृ वियोग के अनंतर कृपाचार्य की भगिनी कृपी से पुत्रेच्छा से विवाह किया था, जिससे अश्वत्थामा नामक तनय प्राप्त हुआ। उन्होंने धन की कभी इच्छा न की इसलिये उनके पास एक गौ भी न थी। उस समय वणिक सुतों को दूध पीते देख उनका पुत्र भी दूध के लिये मचलता और तब वे दूध के अभाव में चावल पीस कर पानी में घोल उसे दूध कहकर पिला देते और बाल्यवश वह बिचारा उसे पीकर आनंद से नाचने लगता। उनकी यह दशा देख पड़ोसी कहने लगे कि इस ब्राह्मण द्रोण को धिक्कार है जिसे कहीं धन ही नहीं मिलता और जिसका पुत्र क्षीर समझ पिष्टोदक-पान से नाचता है। आचार्य द्रोण ने भीष्म पितामह से कहा—"राजन्! यह सुनकर मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई और मैंने समझा कि मेरी गृहस्थी भली भाँति नहीं

चल रही है। मैं तपस्या छोड़ धनोपार्जन का कार्य निंद्य समझता था और शुद्र प्रतिग्रह छोड़ दूषित दान नहीं लेना चाहता था। इसीलिये मुझे इतना कष्ट हुआ।"

द्रोणाचार्य ने फिर कहा "बाल वय में पांचाल कुमार द्रुपद महर्षि अग्निवेश के आश्रम में मेरा सहपाठी था और मुझसे कहता था कि वयस्क होने पर उसका राज्य मेरे ही अधीन रहेगा। इसीलिये मैंने अपनी गृहस्थी इस प्रकार संकट में पा अपने बाल सखा द्रुपद की बातें स्मरण कर सकुटुम्ब पांचाल देश के लिये प्रस्थान किया। किन्तु जब उससे मिलकर मैंने उसे मित्र कहकर संबोधन किया तब मिथ्या आत्मगौरव के घमंड में वह ऐसा चूर हुआ कि मेरे इस संबोधन से अपनी भारी मानहानि समझकर कहने लगा कि ऐसे भिखमंगों के सखा राजा नहीं होते। उसका यह अनुचित गर्व देखकर मैं एक मानसिक प्रण कर चुका हूँ, जिसे समय पर पूरा करूँगा। अब मैं यहाँ आ गया हूँ और आपकी कामना पूरी करने को तैयार हूँ। इसलिये आप जो कहें सो मैं करूँ।"

यह सुन पितामह ने कहा "आप मुझे भाग्यवश मिल गये; अब मुझ पर अनुग्रह करके यहीं विराजिये। कुरु कुल में जो वित्त है उसके आपही स्वामी हैं और जो यह राज्य है उसके आपही राजा हैं। यह कुरुवंश आज से आपही का हो चुका। आपको जो कुछ वांछित हो उसे तुरंत संपादित समझिये और इन पुत्रों को सद्विद्यादान कीजिये।" यह कहकर द्रोण का सविधि पूजन करके भीष्म ने विविध भाँति के धन धान्य से युक्त चारु सदन उन्हें समर्पित किया और कौरव कुमारों को शिष्य बनाने के लिये उन्हें सौंप दिया।

द्रोणाचार्य ने इस योग्य सत्कार से परम प्रसन्न होकर नियम के साथ कुमारों को शस्त्र-विद्या सिखलाना आरम्भ किया। अर्जुन और कर्ण धनुर्विद्या में श्रेष्ठ हुये और दुर्योधन तथा भीम गदा युद्ध में। पीछे से इन दोनों ने श्रीकृष्ण के भाई बलराम से भी गदा युद्ध की उच्च शिक्षा पाई। कर्ण ने द्रोणाचार्य से ब्रह्मास्त्र सीखने का भी प्रस्ताव किया किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि ब्रह्मास्त्र का प्रयोग केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय के योग्य है न कि शूद्र के। यह सुन द्रोण से विद्याप्राप्ति में भग्नोत्साह होकर पराक्रमी तथा महत्वाकांक्षी कर्ण महेन्द्र गिरि पर चला गया और अपने को ब्राह्मण कह कर परशुराम से पूर्ण विद्या प्राप्त करने में समर्थ हुआ।

एक बार कर्ण की जंघा पर शीश रखकर परशुराम सो गये। उसी समय अकस्मात् एक कीड़ा नीचे से आकर कर्ण की जाँघ को ऐसे स्थान पर काटने लगा जहाँ बिना जाँघ उठाये उसका निवारण नहीं हो सकता था। कर्ण ने गुरु की निद्रा भंग न करने के विचार से जंघा नहीं हिलाई यद्यपि कृमि के काटने से रुधिर की धार बहने लगी। शोणित के शिर में लगने से महर्षि परशुराम जाग पड़े और सारा वृत्तान्त सुनकर कर्ण के कष्टों पर बड़े दुखित हुये किन्तु वे यह भी ताड़ गये कि कष्ट में इतना शारीरिक धैर्य ब्राह्मण के लिये कठिन है अतः यह मेरा शिष्य कोई क्षत्रिय समझ पड़ता है। उनके पूछने पर कर्ण ने सारा हाल कह सुनाया। परशुराम ने उसकी झुठाई पर कुछ क्रोध किया किंतु उसके असीम धैर्य एवं शस्त्र प्राप्ति की उद्दाम इच्छा से मुग्ध होकर उसे शिष्यत्व से अलग नहीं किया और श्रम करके उसे पूरा वीर एवं शस्त्रविद्या पारंगत बना दिया। अंत में गुरु से आशीर्वाद पाकर कर्ण अपने घर वापस आया।

इधर द्रोणाचार्य कौरव-पांडवों को विधिवत् शस्त्र विद्या सिखलाते रहे। इसी बीच में किराताधीश हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य द्रोणाचार्य से शस्त्रविद्या सीखने के लिये आया। इन्होंने किरात को नीच समझकर शिष्य न बनाया, किंतु उसने इनकी मृण्मयी मूर्ति सामने रखकर जंगल में शस्त्राभ्यास आरंभ किया और थोड़े ही दिनों में ऐसी योग्यता संपादित करली कि एक बार शिकारी कुत्ते के भोंकने पर जब तक वह मुँह बंद करे तब तक इसने उसके मुख को पाँच बाणों से भर दिया। इसका पराक्रम देखकर अर्जुन को ईर्ष्या उत्पन्न हुई पर द्रोणाचार्य ने गुरु दक्षिणा के रूप में एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा कटवा कर ले लिया जिससे उसकी वह प्रवीणता जाती रही। द्रोण का महत्व सुनकर भारत भर से देश देश के राजपुत्र आ आकर इनसे शस्त्रविद्या सीखते थे।

उचित समय पर जब भरत राजकुमार अस्त्रविद्या में निपुण हो गये तब द्रोणाचार्य ने यह शुभ संवाद धृतराष्ट्र से कह सुनाया। उस काल सभा में बाह्लीक, कृपाचार्य, सोमदत्त, भीष्म, विदुर और भगवान वेदव्यास भी वर्तमान थे। सबने द्रोण की भारी प्रशंसा की और धृतराष्ट्र ने संतोष प्रकट करके कहा, "हे भरद्वाज नंदन! आपने बहुत बड़ा कार्य किया है।" फिर उन्होंने विदुर को आज्ञा दी कि द्रोणाचार्य के इच्छानुसार कुमारों के शस्त्रनैपुण्य प्रदर्शनार्थ उचित प्रबंध किया जाये और नगर में डौंड़ी पिटवा दी जाये कि सर्व साधारण भी कुमारों का यह महत्कार्य अवलोकन करके प्रसन्नता प्राप्त करें और समझें कि उनके रक्षणार्थ कैसे कैसे प्रबंध किये गये हैं। विदुर ने ऐसा ही किया और शुभ दिन पर पुरजन समेत कौरव राज-समाज कुमारों की प्रवीणता देखने एकत्र हुआ। रानियाँ भी

यथास्थान उपस्थित होकर इस शुभ अवसर की शोभा बढ़ाने लगीं और दर्शनागार प्रेक्षकों तथा अधिकारियों से खचाखच भर गया।

उचित समय पर श्वेतपट एवं श्वेत माला पहिने हुये अस्त्र-सिंधु आचार्य द्रोण, अश्वत्थामा तथा शिष्यों समेत दर्शनागार में पधारे। इतने में राजा की आज्ञा से विविध प्रकार के बाजे बजने लगे तथा धर्म धुरीण आचार्य ने विधिवत् क्षेत्र-पूजन किया और ब्राह्मण लोग वेद मंत्र पढ़ने लगे। अब कुमारों ने अपनी अपनी शिक्षा दिखलानी प्रारंभ की। सबसे बड़े होने के कारण युधिष्ठिर ने सबसे पहिले अपनी कला दिखलाई। भीम और दुर्योधन एक ही दिन उत्पन्न हुये थे। स्थिर तथा चल लक्ष्य-वेध में कुमारों ने अच्छी प्रवीणता प्रदर्शित की और भाँति भाँति के वाहनों पर चढ़ चढ़ कर भिन्न प्रकार के लक्ष्य भेद में नैपुण्य दिखलाया। फिर भीम और दुर्योधन गदा लेकर कृत्रिम युद्ध दिखलाने लगे। किंतु इनमें प्राचीन वैमनस्य होने के कारण कृत्रिम के स्थान पर वास्तविक युद्ध होने लगा। यह देख पिता की आज्ञा से अश्वत्थामा ने बीच में खड़े होकर इन दोनों का युद्ध निवारण किया। इसके पीछे शूर शिरोमणि अर्जुन ने सबसे बढ़ कर अपना कौशल दिखलाया।

ज्योंही अर्जुन ने कार्य समाप्त किया कि द्वार से अकस्मात् भुजदंड ठोंकने की वज्राघात के समान ध्वनि सुन पड़ी। सबने आश्चर्यचकित होकर उधर ही की ओर दृष्टि लगाई और लोग इधर उधर हट गये तथा महाबली कर्ण ने मार्ग पाकर रंगस्थल में आ सब का निरीक्षण किया। उसने पाँचों पांडवों को द्रोणाचार्य के साथ खड़े पाया और धृतराष्ट्र पुत्रों को अश्वत्थामा के पास। कर्ण के सिंह समान शरीर पर सहज कवच एवं पर्ण

कुंडल शोभा देते थे और वह सूर्य के समान प्रकाशमान हाथ में धनुषबाण लिये गुरुकाय से चरणगामी पर्वत के समान शोभित था। रंग का भली-भाँति निरीक्षण करके परशुराम के इस प्रिय शिष्य ने कृपाचार्य और द्रोण को सादर नमस्कार किया। "यह कौन आया" इसी विचार में लोग चकित थे कि कर्ण ने दर्पपूर्वक यह वचन कहे, "हे अर्जुन! मैं अधिरथ एवं राधा का पुत्र कर्ण तुम्हारी वीरता को तृणवत् मानकर तुम्हारे दिखलाये हुये कौशल से कहीं बढ़कर नैपुण्य दिखलाता हूँ।" यह सुन अर्जुन को क्रोध और साथ ही साथ लज्जा ने आ घेरा तथा दुर्योधन परम प्रसन्न हुआ। अनंतर द्रोणाचार्य की आज्ञा पाकर कर्ण ने अर्जुन के दिखलाये हुये सारे कार्य फिर से कर दिखाये।

यह देख दुर्योधन ने उसका भारी सम्मान करके कहा, "तुम मुझे भाग्यवश मिल गये। अतः राजसहित मेरी जो कुछ संपत्ति है उसका तुम यथेष्ट भोग करो।" इस महा सत्कार को नमित मूर्धा होकर स्वीकार करते हुये वीर कर्ण ने अर्जुन के साथ द्वन्द्व युद्ध करने की इच्छा प्रकट की। द्रोणाचार्य की आज्ञा पाकर वीर अर्जुन भी अमोघ कोदंड धारण कर युद्धार्थ सन्नद्ध हुआ। यह देख कर्ण और अर्जुन दोनों के अपने प्रिय पुत्र होने से महारानी कुंती बंधु-विरोध से चलितधैर्य होकर ऐसी घबराईं कि मूर्छित ही हो गईं। विदुर ने यह अनर्थ देख चंदनादि उपचार से महारानी की मूर्छा भंग की। रनिवास के इस गड़बड़ से खिन्न होकर आचार्य कृप ने युद्ध को अनुचित मान कर्ण से कहा, "द्वन्द्व युद्ध शास्त्रानुसार समान बल, वय और प्रतिष्ठायुक्त पुरुषों में ही हो सकता है। इसलिये सूतपुत्र होने के कारण तुम कुलीन अर्जुन से द्वन्द्वयुद्ध करने योग्य नहीं हो।"

कर्ण ने तो यह सुन कुछ भी न कहा किंतु दुर्योधन ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया, " हे आचार्य ! शास्त्रानुसार राजयोनि तीन प्रकार से समान होती है अर्थात् शूर, कुलीन और सेनाधीश ये तीनों ही समभाव से पूज्य क्षत्रिय हैं और किसी कुलविशेष में जन्म ग्रहण करने से क्षत्रियत्व की दृष्टि से कोई ऊँच नीच नहीं। यदि वीर कर्ण को राज्य रहित समझकर अर्जुन इनसे युद्ध नहीं करता तो मैं इन्हें अंग देश का राज्याभिषिक्त भूपाल बनाता हूँ।" यह कह दुर्योधन ने विधिपूर्वक कर्ण का अभिषेक करके राज्य चिह्न दिये और वीर कर्ण छत्र-चमर से सुशोभित हुआ। इस सम्मान से प्रसन्न होकर कर्ण का पालक पिता अधिरथ शिथिलांग होने पर भी यष्टि के सहारे चलता हुआ कर्ण के पास पहुँचा और पुत्र ने उसके पैरों पर अपना सिर रख दिया तथा उसने कर्ण को हृदय से लगाकर शिर का आघ्राण किया और हर्ष के आँसुओं से उसे सींचकर अपने को धन्य माना। युद्ध संबंधी दो चार साधारण वादविवाद होने के पीछे सूर्य भगवान अस्ताचल को पधारे तब सब लोग प्रसन्न मन अपने अपने निवास स्थान को चले गये।

तब भरत कुमारों ने द्रोणाचार्य से गुरु दक्षिणा माँगने के विषय में निवेदन किया। आचार्य ने कहा, " पांचाल राज द्रुपद को पकड़कर तुम सब लोग मेरे पास बाँध लाओ, यही मेरी गुरु दक्षिणा है!" यह सुन कौरवी सेना ने युद्धार्थ तैयार होकर प्रस्थान किया और राजकुमारों ने द्रुपदपुर कांपिल्य पर दलबल समेत आक्रमण किया। द्रुपद ने वीरता के साथ इनका सामना किया, किंतु अर्जुन के आगे उसकी एक न चली और इन्होंने सहज ही में उसे पकड़कर द्रोणाचार्य के सम्मुख उपस्थित कर दिया। अब द्रोणाचार्य की प्रतिज्ञा पूरी हुई। उन्होंने द्रुपद की

दृष्टि में अपना भी पद उसके ही समान करने के लिये उसका आधा राज्य उत्तर पांचाल लेकर शेष दक्षिण पांचाल पर उसे पुनः प्रतिष्ठित किया। द्रोणाचार्य ने कुछ दिन तक इस राज्य का पालन किया। फिर संभवतः राज्य-शासन-कार्य अपने अनुकूल न पाकर थोड़े ही दिनों में द्रुपद का आधा राज्य भी उसे वापस दे दिया।

प्रश्न

१—द्रोणाचार्य ने किससे शिक्षा पाई थी?

२—एकलव्य से ऐसी गुरु दक्षिणा लेने का द्रोणाचार्य का व्यवहार कहाँ तक उचित था?

३—एकलव्य के बाद अर्जुन को कौन प्रतिद्वन्द्वी मिला?

४—अर्जुन ने आचार्य द्रोणाचार्य को क्या गुरु दक्षिणा दी?

———

५—जन्म और गृह त्याग

[श्री राहुल सांकृत्यायन]

महामाया देवी पात्र में तेल की भाँति बोधिसत्व को दस मास कोख में धारण कर गर्भ के परिपूर्ण होने पर नैहर जाने की इच्छा से शुद्धोदन महाराज से बोलीं—"देव! अपने पिता के कुल के देवदह नगर को जाना चाहती हूँ।" राजा ने अच्छा कह कपिलवस्तु से देवदह नगर तक के मार्ग को केला, पूर्णघट, ध्वजपताका आदि से अलंकृत करा देवी को सोने की पालकी में बैठा एक सहस्र अधिकारियों तथा परिजनों के साथ भेज दिया। दोनों नगरों के बीच लुम्बिनिकदाव* नामक शालवन था। उस समय वह वन मूल से लेकर शिखर की शाखाओं तक पाँती से फूला हुआ था। फूलों और डालियों पर नाना रंगों के भ्रमर और पक्षी मधुर स्वर से कूजन करते विचर रहे थे। सारा लुम्बिनिवन चित्र विचित्र लताओं से प्रतापी राजा के राज्य की सुसज्जित हाट के समान समृद्ध हो रहा था।

उस मंगल वन को देख देवी के मन में उसमें विहरण करने की इच्छा हुई। तदनुसार राजा के अधिकारीगण देवी को ले शालवन में प्रविष्ट हुये। वह एक शाल के नीचे जा उसकी डाली पकड़ना चाहती थीं और जब उन्होंने हाथ फैला कर शाखा

---

* लुम्बिनिकदाव—वर्तमान रुम्मिनदेई। नौतनवा (ओ० टी० रेलवे) से प्रायः ८ मील पश्चिम नेपाल की तराई में।

पकड़ ली उस समय उन्हें प्रसव-वेदना आरंभ हुई। बोधिसत्व सीढ़ी से उतरने पुरुष जैसे माता की कोख से काशी देश के शुद्ध निर्मल वस्त्र में रखे मणि-रत्न के समान निकले। दोनों नगरों (कपिलवस्तु और देवदह) के निवासी बोधिसत्व को लेकर कपिलवस्तु को लौटे।

उसी समय शुद्धोदन महाराज के कुल मान्य 'कालदेवल' नामक तपस्वी शीघ्र ही राज सदन में आये और आसन पर आसीन हो बोले—"महाराज आपके जो पुत्र हुआ है उसे मैं देखना चाहता हूँ।" राजा उन सुअलंकृत कुमार को मँगा तापस की बन्दना कराने को ले गये। तापस ने बोधिसत्व के लक्षण देख यह विचार किया कि वह बुद्ध होगा या नहीं और फिर अपनी तपस्या के बल से यह जाना कि वह अवश्य बुद्ध होगा। यह जान कर कि वह बालक अद्भुत पुरुष है तापस मुसकुराया किन्तु यह विचार कर कि ऐसे अद्भुत पुरुष को बुद्ध होने पर न देख पाऊँगा वह रोने लगा। लोगों ने जब यह देखा कि आर्य अभी तो हँसे थे फिर रोने क्यों लगे तो पूछा—'भन्ते! हमारे आर्य पुत्र को कोई संकट तो नहीं होने वाला है?"

"इनको संकट नहीं है। यह निःसंशय बुद्ध होंगे।" तापस ने कहा।

"तो आप क्यों रोते हैं?"

"इस प्रकार के महापुरुष को बुद्ध होने पर नहीं देख सकूँगा अपने इसी दुर्भाग्य को सोच कर मैं रो रहा हूँ।" तापस ने कहा।

बोधिसत्व को पाँचवें दिन शिर से नहलाया गया और नामकरण करने के लिये राजभवन को चारों प्रकार की गंधों से लिपवाकर खीलों सहित चार प्रकार के पुष्पों को बिखेर, निर्जल

खीर पकवा, तीनों वेद के पारंगत एक सौ आठ ब्राह्मणों को निमंत्रित कर भोजन करा बोधिसत्व का भविष्य पुछवाया गया। उनमें लक्षण जानने वाले "दैवज्ञ" (ज्योतिषी ब्राह्मणों में से सात ने दो अंगुलियाँ उठा कहा—"ऐसे लक्षणों वाला यदि गृहस्थ रहे तो चक्रवर्ती राजा और प्रव्रजित हो तो बुद्ध होता है।"

उनमें सबसे कम वय के कौडिन्य नामक तरुण ब्राह्मण ने बोधिसत्व के सुन्दर लक्षणों को देख एक अंगुली उठाकर कहा—"इसके घर में रहने का कोई कारण नहीं है, अवश्य ही यह विवृत-कपाट बुद्ध होगा।"

राजा ने बोधिसत्व के लिये उत्तम रूप वाली दोषों से रहित धाइयाँ नियुक्त कीं। बोधिसत्व अनन्त परिवार तथा महती शोभा और श्री के साथ बढ़ने लगे।

एक दिन राजा के यहाँ खेत बोने का उत्सव था। उस दिन लोग सारे नगर को देवताओं के विमान की भाँति अलंकृत करते थे। सभी दास, कर्मकर आदि नये वस्त्र पहिन गंधमाला आदि से विभूषित हो राजसदन में एकत्र होते थे। राजा की खेती में एक सहस्र हल चलते थे। उस दिन बैलों की रुपहली रस्सी की जोत के साथ एक कम आठ सौ हल थे। राजा का हल रत्न सुवर्ण जटित था। राजा बड़े दल बल के साथ पुत्र को भी ले वहाँ पहुँचा जहाँ खेतों के पास ही बहुत पत्तों तथा घनी छाया वाला एक जामुन का वृक्ष था। वहाँ वितान बँधवा राजकुमार का बिछौना बिछवा राजा हल जोतने के स्थान पर गया। वहाँ राजा ने सुनहले हल को और उसके अमात्यों तथा अन्य अधिकारियों ने एक कम आठ सौ हलों को और कर्मकर दूसरे हलों को जोतने लगे। वहाँ बड़ी भीड़ भाड़ और उत्सव

था। बोधिसत्व को घेर कर बैठी धाइयाँ भी कौतुक देखने के लिये घेरे के बाहर निकल गईं। बोधिसत्व इधर उधर किसी को न देख आसन मार ध्यान में स्थित हो गये। लौट कर तिरस्करिणी उठाते ही धाइयों ने यह देखा। उस समय अन्य वृक्षों की छाया तो घूम गई थी किन्तु कुमार वाले वृक्ष की छाया गोलाकार ही खड़ी थी यह देख धाइयों ने जाकर राजा से कहा। राजा ने वेग से आ उस चमत्कार को देखा।

इस प्रकार कुमार सिद्धार्थ क्रमशः बढ़ते हुये जब सोलह वर्ष के हुये तो राजा ने उनको तीनों ऋतुओं के लिये तीन सदन बनवा दिये और वहाँ सहस्रों नाटक करने वाली स्त्रियों को नियुक्त कर दिया। बोधिसत्व अप्सराओं के समुदाय से घिरे हुये देवताओं की भाँति, नटियों से परिवृत, स्त्रियों द्वारा बजाये गये वाद्यों से सेवित महासम्पत्ति का उपभोग करते हुए विहार करते थे। राहुल माता देवी उनकी पटरानी थीं। इस प्रकार महासम्पत्ति उपभोग करते हुए कुमार सिद्धार्थ के सम्बन्ध में उनके जाति वालों में चर्चा छिड़ी कि कुमार भोगों में ही लिप्त हो रहे हैं। कोई कला नहीं सीख रहे हैं। युद्ध आने पर क्या करेंगे? राजा शुद्धोदन के कानों में भी यह बात पड़ी। तब राजा ने सिद्धार्थ को बुलवा कर कहा—'तात! तेरी जाति वाले कहते हैं कि सिद्धार्थ किसी शिल्पकला को न सीख कर भोगों में ही लिप्त हैं।"

"देव! मुझे शिल्प सीखने को नहीं हैं। नगर में मेरा शिल्प देखने के लिये ढिंढोरा पिटवा दें। आज के सातवें दिन मैं जाति वालों को अपना शिल्प * दिखलाऊँगा।"

---

* शिल्प; युद्धकला; गुण या "करतब"।

राजा ने वैसा ही किया। कुमार ने नाना प्रकार की बाण-विद्या जानने वाले धनुर्धारियों तथा नागरिकों के मध्य अन्य धनुर्धारियों से भी बारह प्रकार के अधिक शिल्प अपने जाति वालों को दिखलाये।

एक दिन की बात है कि जब उपवन देखने की इच्छा से कुमार ने सारथी को रथ जोतने के लिये कहा और उसके रथ तैयार करने पर जब वह देव विमान सदृश उस रथ पर चढ़ कर उपवन की ओर चले तो मार्ग में उन्हें एक पुरुष जरा से जर्जरित, टूटे दाँत, पके केश, टेढ़े झुके हुये शरीर वाला हाथ में लकड़ी लिये काँपता हुआ मिला। सिद्धार्थ ने उसे देख सारथी से पूछा—"सौम्य! यह कौन पुरुष है? इसके केश भी और लोगों के समान नहीं है!" सारथी का यह उत्तर पा कि यह बुढ़ापे से जर्जरित है कुमार ने कहा—"अहो! धिक्कार है जन्म को, जन्म लेने वाले को जिसे ऐसा बुढ़ापा सहना हो!" यह कह वह आगे न बढ़े। राजसदन को लौट आये। राजा ने शीघ्र लौटने का कारण सुन कहा—'मेरा सर्वनाश न करो, शीघ्र ही पुत्र के लिये नाटक तैयार करो!"

एक दिन बोधिसत्व फिर जब उपवन को जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने एक रोगी को देखा और सारथी से पहिले की भाँति पूछ शोकाकुल हृदय महल में लौट आये। राजा ने सब सुन कर चारों ओर पौन योजन तक पहरा बैठा दिया।

फिर एक दिन उसी प्रकार उद्यान जाते हुये एक मृतक को देख पहिले की भाँति पूछ उद्विग्न हृदय वह आवास को लौट आये। राजा ने पहिले की भाँति नगर के चारों ओर एक योजन तक का पहरा बैठा दिया।

फिर एक दिन बोधिसत्व ने उद्यान जाते हुये भली प्रकार ढँके एक प्रव्रजित (संन्यासी) को देख सारथी से पूछा— "सौम्य ! यह कौन है ?" सारथी ने कहा "देव ! यह प्रव्रजित है।" फिर उसने कुमार को सन्यासियों के गुण बताये। बोधिसत्व को प्रव्रज्या में रुचि हो गई। वह उस दिन उद्यान को गये।

सिद्धार्थ ने दिन भर उद्यान में क्रीड़ा कर सुन्दर पुष्करिणी में स्नान किया और सूर्यास्त के समय सुन्दर शिलापट्ट पर अपने को आभूषित कराने के लिये बैठे। उस काल जिस समय कुमार के परिचारक नाना रंग के शाल, नाना भाँति के आभूषण, माला, सुगन्धि, उबटन आदि लेकर उन्हें चारों ओर घेर कर खड़े हुये ब्रह्मांड भर में एक लहर सी फैल रही थी कारण वह बोधिसत्व का अन्तिम शृंगार था। वे शाल दुशाले बोधिसत्व के शिर पर श्यामलता और कुदुम्बक के पुष्प के समान और उनका शिर किंजल्क युक्त कुय्यक फूल के समान लग रहा था! फिर सब आभूषणों से आभूषित हो, "जय हो ! जय हो !!" आदि मगल वचनों तथा सूत मागधों के नाना प्रकार के जयघोषों के बीच कुमार उत्तम रथ पर आरूढ़ हो नगर की ओर चले।

उसी समय राहुल-माता ने पुत्र प्रसव किया। यह सुन महाराज शुद्धोदन ने यह शुभ समाचार कुमार को सुनाने के लिये परिचारक भेजे। बोधिसत्व ने यह समाचार पाकर कहा— "राहुल पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" राजा ने परिचारकों से पूछा - "मेरे पुत्र ने क्या कहा ?" उन्होंने जो सुना था कह दिया। तब राजा ने कहा— 'तो मेरे पौत्र का नाम राहुल कुमार होगा।"

उधर श्रेष्ठ रथ पर आरूढ़ बोधिसत्व बड़े भारी यश, अति-मनोरम शोभा तथा सौभाग्य के साथ नगर में प्रविष्ट हो रहे

थे। उस समय कोठे पर बैठी कृशा गौतमी नामक क्षत्रिय कन्या ने उनकी रूप-शोभा देख कर बहुत ही प्रसन्नता और हर्ष से कहा—

परम शान्त माता सोई, परम शान्त पितु सोय।
परम शान्त भार्या सोई, जेहि अस सुत पति होय॥

प्रश्न

१—कुमार सिद्धार्थ का जन्म कहाँ और किस प्रकार हुआ था?
२—कुमार सिद्धार्थ के गृह-त्याग के क्या कारण थे?

६—हथिकन्त-सिप्प

[श्री जयचंद्रजी विद्यालंकार]

कोशल, मगध, अवन्ति और वत्स ये चार बड़े राज्य ईसा पूर्व छठीं शताब्दी के आरंभ में भारतवर्ष के केन्द्र भाग में प्रतिष्ठित थे। उस युग में जब बुद्धदेव ने अपना 'धर्म-चक्र' चला कर चातुर्दिश धर्म-संघ की नींव डाली थी उसी समय भारतवर्ष के राज्यों में भी अपने को चातुरन्त सार्वभौम राज्य बनाने की होड़ चल रही थी। उन राज्यों में से अवन्ति, कोशल और मगध विशेष रूप से अपनी-अपनी शक्ति बढ़ाने और एक दूसरे को पछाड़ने की होड़ में लगे थे।

सबसे पहिले अवन्ति ने अपने हाथ बढ़ाना आरंभ किया। राजा प्रद्योत से उसके सब पड़ोसी डरते और उसके आगे झुकते थे। भारतवर्ष के राजवंशों का उदय और अस्त करना उसके हाथ में था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उत्तर की ओर मथुरा को विजय कर लिया था और वहाँ का शासन अवन्ति के एक राजपुत्र को दे दिया था। प्राचीन युगों में मथुरा की वही सामरिक और भौगोलिक स्थिति थी जो आज दिल्ली की है। प्राचीन युगों में जब दिल्ली नहीं थी तब मथुरा को लेने का वही अर्थ होता था जो आज दिल्ली को लेने का हो सकता है।

अवन्ति की राजधानी उज्जेनि (उज्जयिनी) बड़े महत्व की नगरी थी। पश्चिम समुद्र के तीर्थों (बन्दरगाहों) और उत्तर भारत के बीच जो व्यापार होता वह सभी उज्जेनि होकर प्रचलित था। उज्जेनि से पश्चिमी मध्यदेश तथा पंजाब के सार्थ (काफिले) मथुरा एवं पूरबी मध्यदेश (कोशल) और मगध के सार्थ को सम्बि (कौशाम्बी) चले जाते। मथुरा से पंजाब और पश्चिमी मध्यदेश के मार्ग अलग होते; उसी प्रकार कोसम्बि से कोशल और मगध के रास्ते फटते थे। अवन्ति के राज्य को फैलने के लिये एक ओर मथुरा का मार्ग था तो दूसरी ओर कोसम्बि का।

मगध और कोशल जैसे समृद्ध देशों के व्यापार-मार्ग पर रहने के कारण कौशाम्बी बड़ी समृद्ध नगरी थी। वह वत्स देश की राजधानी था, जहाँ उस समय भारत-वंश का राजा उदयन राज्य करता था। आर्यावर्त के उस समय के सब राजवशों में भारत-वंश सबसे प्राचीन और कुलीन था। उस समय के लोग यह अनुमान करते थे कि वही वह वंश था जिसके राजर्षियों की कीर्ति वेदों में भी गाई गई है। कुलीन होने के अतिरिक्त उदयन बड़ा ही प्रजानुरक्त, वीर, रसिक और सुन्दर जवान था। उसके साहस और प्रेम की गाथाएँ शताब्दियों पीछे तक जनसाधारण में गाई जाती रहीं।

कहते हैं उसे हथिकन्त सिप्प (हस्तिकान्त शिल्प) आता था एक मंत्र का प्रयोग कर और हस्तिकान्त वीणा को बजाकर वह किसी भी हाथी को पकड़ सकता था। उज्जेनि के राजा चंड पज्जोत ने अपने अमात्यों से मत कर एक षड्यंत्र रचा और दोनों देशों की सीमा के घने जंगल में जहाँ उदेन (उदयन) आखेट के लिये आया हुआ था, एक काठ का बनावटी हाथी, जिस पर चीथड़े लपेट कर रंग किया हुआ था, छोड़वा दिया। समाचार पाकर

उदेन उसे पकड़ने पहुँचा; मंत्र चलाया, वीणा बजाई पर हाथी मानों वीणा सुनता ही न था और उलटी ओर दौड़ पड़ा! घोड़े पर चढ़कर उदेन उसके पीछे दौड़ा। उसके साथी पीछे रह गये और हाथी के भीतर तथा जंगल में छिपे हुए पज्जोत के पुरुषों ने उसे पकड़ लिया। पज्जोत ने उसे एक चोर-गेह में बन्द करवा दिया और तीन दिन बड़ा उत्सव मनाया। उदेन ने तीसरे दिन आरक्षिकों से पूछा—"तुम्हारा राजा कहाँ है?"

"शत्रु पकड़ा गया इसलिये हमारा राजा जय-पान पीता है।"

"क्या यह स्त्रियों की सी बात तुम्हारा राजा करता है! शत्रु राजा को पकड़ा है तो या तो उसे छोड़ना चाहिये या मारना चाहिये।"

उन लोगों ने जाकर पज्जोत से वह बात कही। पज्जोत ने आकर उदेन से कहा—"बात तो तुम ठीक कहते हो, मैं तुम्हें छोड़ दूँगा; पर तुम्हें ऐसा मंत्र आता है मुझे सिखा दो।"

"सिखा दूँगा, पर क्या तुम मुझे गुरु बनाकर अभिवादन करोगे?"

"क्या मैं तुम्हें अभिवादन करूँगा? कभी न करूँगा।"

"मैं भी न सिखाऊँगा।"

"तब तो मैं तुम्हें मुक्त कर तुम्हारा राज्य दे दूँगा!"

"जो भी जी में आये करो! मेरे शरीर के भले हो तुम मालिक हो चित्त के नहीं।"

पज्जोत ने देखा उदेन वश में न आयेगा। उसे उपाय सूझा। उसने उदेन से पूछा—"दूसरा कोई तुम्हें अभिवादन करे तो उसे सिखा दोगे?"

उदेन ने स्वीकार किया। तब पज्जोत ने कहा—"हमारे घर की एक कुबड़ी तुमसे सीखेगी, वह चिक के अन्दर बैठा करेगी।

तुम बाहर बैठकर मंत्र सिखाया करना। पज्जोत ने उधर अपनी बेटी वासुलदत्ता (वासवदत्ता) से कहा—"एक कोढ़ी अनमोल मंत्र जानता है। तुम्हीं उससे सीख सकती हो। तुम चिक के भीतर बैठी करना। वह बाहर से सिखाया करेगा।"

इस प्रकार वासुलदत्ता मंत्र सीखने लगी। किन्तु वह पाठ ठीक न दोहराती और एक दिन उदेन खीझ कर चीख उठा—"कुबड़ी! बड़े मोटे तेरे होंठ और जबड़े हैं! ऐसे बोल!"

"क्या बकता है बे दुष्ट कोढ़ी! मेरी जैसी कुबड़ी होती हैं?"

उदेन ने चिक को एक किनारे से हटा दिया। तब सब भेद खुल गया। उस दिन मंत्र और शिल्प की आगे पढ़ाई न हुई और उदेन चिक के बाहर भी न बैठा रहा। नित वही कुछ होने लगा। राजा बेटी से प्रतिदिन पूछता "शिल्प सीख रही है न?" और वह कहती, "सीख रही हूँ।"

कुछ दिन बाद युवक और युवती षड्यंत्र रचकर उज्जेनि से भाग निकले। जो हुआ अच्छा ही हुआ; क्योंकि बन्दी उदेन की अपेक्षा दामाद उदेन पज्जोत की महत्वाकांक्षा पूरी करने में अधिक सहायक हो सकता था।

प्रश्न

१—पज्जोत कौन था? क्या वह अपने युग का सब से महान् ऐश्वर्यशाली शासक था?

२—उदयन का चरित्र कैसा था? उसके संबंध में किन-किन ग्रंथों से जानकारी प्राप्त हो सकती है?

७—कुमार महाजनक

["महाजनक" जातक से]

(१)

प्राचीन काल में विदेह राष्ट्र की राजधानी मिथिला नगरी में महाजनक नाम के राजा राज करते थे। उनके दो पुत्र हुए—अरिष्टजनक और पोलजनक। राजा ने बड़े बेटे अरिष्टजनक को उपराजा बनाया और छोटे को सेनापति। कुछ समय उपरांत महाजनक के काल करने पर अरिष्टजनक राजा हुए और उन्होंने छोटे भाई पोलजनक को उपराजा बनाया।

एक बार अरिष्टजनक को उनके किसी मुँह लगे सेवक ने उनके पास जाकर कान में भरा कि उपराजा पोलजनक उन्हें मरवा डालना चाहते हैं। राजा ने कुछ ध्यान न दिया, पर जब फिर-फिर यही बात सुनी तो उनका चित्त फूट गया और उन्होंने अपने अनुज पोलजनक को सीकड़ों में बँधवाकर पहरे में डलवा दिया।

बंदीगृह में एक दिन छोटे भाई ने अपनी सचाई की दुहाई देकर कहा—"जो मैं सचमुच ही अपने भाई का बैरी होऊँ तो न मेरी ये संकलें छूटें और न द्वार ही खुलें; नहीं तो संकलें टूट पड़ें और द्वार खुल जायें!" उसके ऐसा कहते ही हथकड़ी-बेड़ी

खंड-खंड हो गईं और द्वार खुल गये। तब वह वहाँ से निकल कर सीमा के एक गाँव में जाकर रहने लगा। वहाँ के लोगों ने उसको पहिचाना और तब उसकी सेवा में उपस्थित रहने लगे।

कुछ दिन बीते राजा अरिष्टजनक को पोलजनक का पता लगा, पर वह उसका कुछ भी बना-बिगाड़ न सका। उधर पोलजनक भी क्रमशः सीमा के जनपद को हथिया कर सोचने लगा— "पहिले मैं भाई का बैरी नहीं था, पर अब तो हूँ।" ऐसा संकल्प करके उसने बहुत से मनुष्यों को बटोरा और मिथिला पर चढ़ाई कर दी। जब नगर के बाहर उसकी सेना आकर ठहर गई तो नगरवासी भी "कुमार पोलजनक आया है" यह सुनकर हाथी-सवारी आदि ले बहुत संख्या में उसके पास जा पहुँचे।

निदान पोलजनक ने अपने भाई को शासन भेजा —"पहिले मैं तुम्हारा बैरी न था; पर अब बैरी हूँ। या तो मुझे छत्र सौंपो या युद्ध करो।'

राजा अरिष्टजनक युद्ध के लिये तैयार हुआ। उस समय उसकी पटरानी को अवधान था। युद्ध के लिये कूच करते समय राजा ने पटरानी के पास जाकर कहा— भद्रे! युद्ध में हार-जीत का कुछ ठिकाना नहीं। सो देखना यदि मुझे कुछ हो जाये तो गर्भ की रक्षा करना!"

(२)

युद्ध में पोलजनक के योद्धाओं ने राजा अरिष्टजनक का काम तमाम कर दिया। राजा के मरने का कोलाहल सारे नगर में फैल गया। संवाद पाते ही रानी भी जल्दी-जल्दी स्वर्ण, रत्नादिक टोकरी में भरकर ऊपर से कपड़ा ढँक कर और उस पर चावल छितरा कर फटे-चीथड़े वस्त्र पहिन, रूप को बिगाड़,

टोकरी पीठ पर रख दिन ही में निकल पड़ी और किसी ने भी उसका कुछ न जाना।

उत्तर के द्वार से निकल कर रानी मार्ग न जानने के कारण दिशा का ठीक-ठीक निश्चय न कर सकी। उसने कालचंपा नगर का नाम भर सुना था इसलिये मार्ग में थक कर "क्या कालचंपा नगर को जाने वाला कोई है ?" यह पूछ-पूछ कर एक ओर बैठ गई। पर उसकी कोख में कोई ऐसा-वैसा जीव न था, वरन् पारमिताओं तक पहुँचा हुआ प्राणी था; सो उसके तेज से इंद्र का आसन डोल गया। 'उसकी कोख में महापुण्यात्मा कोई आया है, शीघ्र चलूँ" यह सोच कर इंद्र सवारी ले बड़े आदमी की तरह उसे हाँकता हुआ उस विश्रांति-घर के द्वार पर आया और पूछने लगा 'क्या कालचंपा नगर को जाने वाला कोई है ?"

"हाँ तात ! मैं जाऊँगी", उस विधवा रानी ने कहा।

"तो अम्माँ आओ ! सवारी पर बैठ लो' प्रच्छन्न इंद्र ने कहा।

"हे तात ! मैं पूरे दिनों वाली हूँ। सवारी पर चढ़ने में अशक्त हूँ। पीछे-पीछे चली चलूँगी। तुम हमारी इस गठरी को रख लो।" बिचारी रानी ने कहा।

"अम्माँ, क्या कहती हो ? गाड़ी हाँकने में मेरे बराबर कोई चतुर नहीं है। मत डरो, चढ़ कर बैठ जाओ !" कह कर इंद्र ने विधवा रानी के रथ पर चढ़ते समय अपनी महिमा से धरती को ढुमास कर सवारी के बराबर लगा दिया। रानी भी रथ पर चढ़ शय्या पर लेट कर सोचने लगी "यह कोई देवता है।" लेटे ही लेटे उसे नींद आ गई।

तीस योजन जाने पर एक नदी पड़ी। तब इंद्र ने रानी को जगा कर कहा—"अम्माँ! उतर कर नदी में नहा लो। सिरहाने के पास साड़ी रखी है उसे पहिन लो, गाड़ी में मालपुआ है उसे खा लो।"

रानी ने वैसा ही किया और फिर गाड़ी में बैठ कर साँझ के समय चंपा में पहुँची। वहाँ द्वार अट्टालक और प्राकार को देख कर वह पूछने लगी –"हे तात! यह कौन सा नगर है?"

"अम्माँ! चंपा नगर है।"

"क्या कहते हो तात! हमारे नगर से चंपा नगर साठ योजन पर है!"

"हाँ अम्माँ! पर मैं सीधा रास्ता जानने के कारण शीघ्र आ गया हूँ।"

फिर उसे दक्खिन द्वार के समीप उतार कर, "अम्माँ! मेरा गाँव सामने है, तुम नगर में जाओ", कह कर इंद्र अदृश्य हो गया।

(३)

रथ से उतर कर रानी एक जगह बैठ गई। उसी समय कोई चंपावासी वेदपाठी ब्राह्मण ५०० शिष्यों के साथ स्नान के लिये जा रहा था। उसने दूर से उसे कुलीन और सुन्दरी देख कर छोटी बहिन जैसा स्नेह मान शिष्यों को बाहर रोका और अकेले शाला में जाकर पूछा—"बहिन! किस गाँव की रहने वाली हो?"

"मिथिला के अरिष्टजनक राजा की मैं पटरानी हूँ।"

"यहाँ कैसे आई?"

"पोलजनक ने राजा को मरवा डाला। मैं डर कर गर्भ की रक्षा के लिये यहाँ आ गई।"

"क्या इस नगर में तुम्हारा कोई चीन्हा-पहिचाना है?"

'हे तात! कोई नहीं।"

"अच्छा सोच न करो। मैं कुलीन उदीच्य ब्राह्मण हूँ और दूर तक प्रसिद्ध आचार्य हूँ। मैं तुम्हें बहिन की तरह मानूँगा। तुम मुझे भाई कह कर, मेरे पाँव पकड़ कर जोर से रोओ!'

तब तो वह चिल्लाकर पैरों में पड़ गई और वे एक दूसरे को चुप करने लगे। शिष्यों ने दौड़ कर पूछा—"आचार्य! क्या हुआ?"

'यह मेरी छोटी बहिन है, जो मेरे न रहने पर जनमी थी।"

"आचार्य! अब यह मिल गई है, अब चिंता न करो!" शिष्यों ने कहा।

तब उसने ढँकी हुई एक बड़ी सवारी मँगवाई और उसमें उसे बिठा कर कहा—"तात! इसे घर ले जाओ। ब्राह्मणी से कहना यह मेरी बहिन है, इसका सब प्रबन्ध कर दे।"

ब्राह्मणी ने गरम जल से स्नान करा के शयन आदिक से उसका सत्कार किया। ब्राह्मण ने भी स्नान से लौट कर भोजन के समय 'मेरी बहिन को बुलाओ" कह कर उसके साथ ही भोजन किया और वह बड़ी तत्परता से उसकी देख-भाल करने लगा। शीघ्र ही उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। उन लोगों ने उसके बाबा के नाम पर उसका नाम 'महाजनक कुमार" रखा। कुमार महाजनक बढ़ने लगा। साथ खेलने वाले बालक जब अपने आपको शुद्ध क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कह कर उसे चिढ़ाते थे तो अपने महाबल और मनस्विता से वह उन्हें कूट देता था। वे रोते और पूछने पर कहते कि विधवा के पुत्र ने हमें मारा है। कुमार ने सोचा "ये मुझे सदा विधवा-पुत्र कह कर उलाहना

देते हैं, तो अपनी माँ से पूछूँ कि क्या बात है ?" सो एक दिन उसने पूछा—"अम्माँ ! मेरे पिता कौन हैं ?"

"तात ! ब्राह्मण तुम्हारे पिता हैं।" उसकी माँ ने कहा।

दूसरे दिन फिर उसी प्रकार की घटना हुई। साथियों ने कहा कि यह तो पूछो कि ब्राह्मण तुम्हारे हैं कौन ? तब उसने अपनी माता से सच-सच बता देने का आग्रह किया। उसकी माँ ने तब कहा—

"तात ! तुम मिथिला के अरिष्टजनक राजा के पुत्र हो। तुम्हारे पिता को पोलजनक ने मरवा डाला। मैं तुम्हें बचाने के लिये यहाँ चली आई। इस ब्राह्मण ने मुझे बहिन मान कर आश्रय दिया।"

तब सच हाल जान कर राजकुमार ने विधवा-पुत्र कहे जाने से चिढ़ना छोड़ दिया और सोलह वर्ष की उम्र में ही तीनों वेद और सारे शिल्प सीख लिये। किशोरावस्था में उसका रूप बड़ा सुन्दर हो गया। अब वह दिन-रात पिता का राज्य प्राप्त करने की चिंता करने लगा। एक दिन उसने अपनी माता से पूछा—"माँ ! क्या तुम्हारे हाथ में कुछ है ? यदि नहीं तो मैं बनिज करके धन कमाऊँगा और पिता के राज्य को लूँगा।"

माँ ने कहा—"तात ! मैं रीते हाथ नहीं आई। मेरे पास ये मोती, मणि और हीरे हैं। इन्हें ला और राज्य ग्रहण करो। व्यवहार की चिंता न करो।"

"अम्माँ ! वह धन मुझे दे दो, पर मैं आधा ही लूँगा और स्वर्णभूमि जाकर वहाँ से बहुत सा धन कमा लाऊँगा।" राजकुमार ने कहा। निदान राजकुमार ने आधा धन लेकर उससे माल खरीद स्वर्ण भूमि-जाने वाले व्यापारियों के साथ जहाज

पर अपना माल लादा और माता को प्रणाम करके कहा—"माँ ! मैं स्वर्णभूमि को जा रहा हूँ।"

"तात ! समुद्र में विघ्न बहुत होते हैं, सफलता कम मिलती है, तुम मत जाओ ! राज्य लेने के लिये यही धन बहुत है।" उसकी माता ने कहा। किंतु राजकुमार न रुका और माँ को प्रणाम करके चल पड़ा।

(४)

उस जहाज पर सात सौ व्यक्ति थे, पर पोत तेजी से सात दिनों में ही योजनों चला गया। आठवें दिन संध्या का समय था जबकि अस्त हुए सूर्य की लाली आकाश में और आकाश से समुद्र में फैली हुई थी, कुछ उपद्रव आरंभ हुआ और बहुत प्रचंड गति से बहने के कारण नाव के जोड़ कई जगह खुल गये। उसमें पानी भरने लगा। कुछ समय में जब नाव समुद्र में डूबने लगी और सब रोते-चिल्लाते थे, उस समय राजकुमार महाजनक न तो रोया और न चिल्लाया। नाव का डूबना निश्चित समझ कर उसने अपनी देह भर में घी से मालिश की और पेट भर खाया। फिर दो धुले वस्त्र तेल में भिगो कर पहिन लिये और नाव के डूबने पर और सब लोग तो कच्छ-मच्छ के भोजन बन गये वा डूब गये, पर महाजनक मिथिला की दिशा मन में निश्चित कर जल में कूद पड़ा। तब से लेकर सात दिन तक वह रंग बिरंगी लहरों पर चढ़ता-उतरता सोने के पटरे की तरह समुद्र में तैरता रहा।

उधर लोकपालों ने समुद्र की रखवाली के लिये "मणिमेखला" नाम की जो देवकन्या नियुक्त कर रखी थी उसे आदेश था कि जिन जीवों में माता की भक्ति, देश की भक्ति, आदि गुण हैं,

समुद्र में गिर कर डूबने से उनकी मृत्यु न होनी चाहिये। विलास में अनुरक्ता होने के कारण उसने अपने नियोग के पालन में प्रमाद किया था और अपने कार्य की सुधि होते ही जब वह आई तो उसने सोने के पटरे की तरह सागर के वक्षस्थल पर एक टूटे कूपक के सहारे तिरते उसे देखा। उसे आश्चर्य हुआ और समीप आ उसने पूछा :—

तुम कौन मनुज वा किन्नर हे !
देवों सा उन्नत भाल लिये,
यह अपने अंग सुघर तुमने
बोलो ! घायन किस भाँति किये ?
तंद्रा होगी मिट जायेगी,
तुम चेत करो पलकें खोलो !
व्यायाम तुम्हारा निष्फल है,
मत सागर से निज बल तोलो !

इस प्रकार के शब्द सुन कुमार महाजनक को आश्चर्य हुआ, उसने अपनी पलकें उघारीं और इस प्रकार कहा :—

तुम पूछ रहा हो देवि ! कहो, तुम कौन लोक की ललना हो ?
तुम निद्रा का प्रिय सपना हो, या जागृति की कटु छलना हो ?
यह जीवन यज्ञ मनोहर है इसमें सब को कुछ देना है,
तुम दर्शक बनकर आई हो या भाग यज्ञ का लेना है ?
तुम पूछ रहा हो देवि ! सुनो मैं दीपक एक लिये कर में,
अपनी नगरी से जाता था अपने पथ से अपने घर में।
पर नगरी अपनी समझी सो बटपारों की बस्ती निकली !
अपने ही घर के दीपक से अपने ही घर को आग लगी !
पर भाग हमारे जले कहाँ मैं जाग रहा हूँ सागर पर,
पुरुषार्थ नहीं खोया जिसका उसका दुनिया भर में है घर !

पहिले नौका थी, संगी थे, वीणा थी, और और सब कुछ,
छीना रत्नाकर ने वह सब पर छीन न पाया उसने कुछ!
हे देवि! तुम्हें क्या बतलाऊँ मैं नहीं जानता अब क्या है,
जानता नहीं हूँ तुम क्या हो, जानता नहीं सागर क्या है;
जानता नहीं यह भी कि कष्टप्रद यात्रा का है कहाँ तीर,
जानता एक बस बना रहूँ जीवित हूँ तब तक कर्मवीर!

महाजनक का ऐसा उत्तर पाकर देवी मणिमेखला ने फिर वही कहना आरंभ किया। वह यही बार बार समझा रही थी कि उस गहरे ओर-छोर-हीन सागर में उसका पुरुषार्थ वृथा और उसके कष्ट का परिणाम नहीं है। उसके परिश्रम का अंत केवल मृत्यु ही है। किन्तु वीरनाविक महाजनक यही कहता था कि लोक में पुरुषार्थ ही मनुष्य का कर्तव्य है और परिणाम का विचार किये बिना ही सदा उद्योगशील रहना सच्चा पुरुषार्थ है। कुछ समय तक दोनों के बीच संवाद चलता रहा। अंत में वीरनाविक के निम्न-वचन मणिमेखला पर छा गये :—

काहे तू ऐसा कहती रे! जीना ही है उद्यम मेरा,
तू क्या जाने मानव यौवन, जाने तू क्या संयम मेरा!
मैं परम पुरुष हूँ जीवन भर उद्यम ही करता जाऊँगा,
निष्फल होकर भी निष्कलंक वसुधा में नित कहलाऊँगा!
मैं उद्यम करता जाऊँगा जब तक इस सागर में जल है!
जब तक इन बाहों में बल है, मानव जीवन में कुछ फल है!
मैं तिल तिल बढ़ता जाऊँगा, अयि मोहिनि! यह व्रत मेरा है,
मैं पार पहुँच ही जाऊँगा अब भी तो बहुत सवेरा है!

उसके इन वचनों के साथ ही देवी मणिमेखला उसके महान् सत्व की परीक्षा लेने के अपने उद्योग में पूर्ण हो चुकी थी, अतः प्रसन्न होकर बोली :—

त्वं एवंगते ओघे अप्पमेय्ये महण्णवे।
धम्म वायाम संपन्नो कम्मना नावसीदसि।
सोत्वं तत्थेय गच्छाहि यत्थते निरतो मनो॥

इतना कह उसने पूछा—'हे पराक्रमी! तुम कहाँ पहुँचना चाहते हो?"

बोधिसत्व महाजनक ने उत्तर दिया—'मिथिला नगरी में।"

× × ×

प्रभात होने के पूर्व ही मणिमेखला देवी ने अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उसे फूलमाला की तरह उठाकर मिथिला के एक उद्यान में पहुँचा दिया।

उसी समय राजा पोलजनक का रुग्ण-शय्या पर शरीरांत हो गया था। उसके बाद पहिले पोलजनक की कन्या सीवलीदेवी से महाजनक का विवाह हुआ। फिर मंत्रियों ने उसे मिथिला का राजा बनाया।

प्रश्न

१—जातक-कथाएँ क्या हैं?

२—मणिमेखला देवी कौन थी और उसने किन किन तर्कों से वीर-नाविक महाजनक को उत्साह-रहित करने का प्रयत्न किया था?

८—मानवलोक में स्वर्गलोक की कथा का आरंभ

[बाणभट्ट की कादम्बरी]

वैशंपायन सुआ बोला—"राजन! विन्ध्याचल की अटवी जो समुद्र-तट के किनारे-किनारे अत्यंत दूर न जाने कहाँ तक चली गई है, संसार भर में मध्य-देश का आभूषण तथा पृथ्वी की मेखला के समान विख्यात है। वहाँ मदमत्त कुरल पक्षी मिर्च के पत्तों को सुख से कुतरा करते हैं, हाथी के बच्चों की सूड़ों से मसले तमाल के पत्तों की चारों ओर सुगन्धि फैला रहती है और वृक्षों के, मदिरा के मद से लाल हुए मलावार की स्त्रियों के गाल जैसी कोमल कान्ति धारण किए, पत्तों से समस्त भूमि आच्छादित रहती है ऐसी ही सुरम्य विन्ध्याटवी में दंडकारण्य के भीतर अगस्त्य मुनि का विख्यात आश्रम है जिसके चारों ओर हरे रंग के केलों के वन फैले हुए हैं जिनसे वहाँ की भूमि कुछ कुछ काली पड़ गई है।

उस आश्रम के निकट ही गोदावरी नदी बहती है। राजा दशरथ के वचन का पालन करने के लिए अयोध्या तज कर रावण की लक्ष्मी के विलास का अंत करने वाले रामचन्द्र सीता के साथ पंचवटी में लक्ष्मण की बनाई हुई कुटी में वहीं कुछ समय तक सुख से रहे थे। उसी अगस्त्याश्रम से थोड़ी दूर पर पम्पा नाम

का एक अगाध, अनन्त, अद्वितीय जल से भरा हुआ पद्म-सरोवर है जो प्रलय-काल में आठों दिशाओं के बंध टूट जाने से नीचे पड़े हुए गगनतल के समान विस्तीर्ण दिखाई देता है। राजन्! उसी पद्म-सरोवर के पश्चिम किनारे पर राम के बाणों से जर्जरित पुराने तालवृक्षों के कुञ्ज के पास एक अत्यन्त दीर्घ शाल्मली का वृक्ष था जिसकी जड़ को सदा घेरे हुए दिग्गज की सूँड़ के समान एक बूढ़ा अजगर लिपटा रहता था! उस शाल्मली वृक्ष की वृहत् शाखाएँ अंतरिक्ष में फैली हुई मानों दिशाओं के मंडल को नापती रहती थीं और जल के भार से मंद-मंद चलते हुए जलद उसकी डालियों में क्षणभर के लिये ठहर जाने पर ऐसे विदित होते थे मानों वे समुद्र का जल पीकर आकाश में उतरे हुए पक्षी हों!

उसी वृक्ष की डालियों के अग्रभाग पर कोटरों के भीतर, घने पत्तों के बीच तथा पुरानी छाल के छिद्रों में देश-देश से आए हुए पक्षियों के झुंड-के झुंड अपने नीड़ बना कर निश्चित बसेरा लेते थे। उस विशाल वृक्ष के ऊपर किसी का चढ़ना सहज नहीं था, इसी कारण उन पक्षियों को उसके आश्रय में अनिष्ट की कुछ भी शंका नहीं रहती थी। वे सब अपने अपने घोंसलों में रात काट कर प्रतिदिन प्रातःकाल आहार की खोज में पाँत बाँध कर उड़ा करते थे। उस समय वे ऐसे लगते थे मानों मदमत्त बलराम के हल के अग्रभाग से ऊपर फेंकी हुई यमुना आकाश में अनेक प्रवाहों में बह रही हों! अथवा मानों आकाश में दूब का कोई खेत ही उड़ा चला जा रहा हो! फिर सन्ध्या समय वे सब पक्षी दिन भर की उड़ान के अनंतर रैन-बसेरा के लिए लौट लौट कर वहीं आते और नीड़ों में बैठे हुए अपने बाल-विहगों को भाँति-भाँति के फलों के रस तथा धान

की मंजरियों की किनकी चुँगा कर उन्हें अपने पंखों के नीचे रख उसी महान् वृक्ष में रात काटते थे ।

मेरे बूढ़े पिता भी मेरे जन्म के पूर्व मेरी माता के साथ उसी वृक्ष में एक जीर्ण कोटर में रहते थे । मेरे जन्म-समय की प्रसव-वेदना से मेरी माता का देहान्त हो गया और उनकी मृत्यु के शोक से मेरे पिता बहुत संतप्त हुए तो भी पुत्र-स्नेह के सामने शोक के तीव्र वेग को भीतर दबा वह मेरे पोषण के प्रयत्न में संलग्न हुए थे । बहुत बृद्ध हो जाने के कारण उड़ने में उनका शरीर काँपने लगता था । आकाश में उड़ने की शक्ति तो उनमें कुछ भी नहीं रह गई थी, अतः वे अपनी चोंच से दूसरों के घोंसलों में से नीचे गिरी हुई धान की लता में से चावलों की किनकी बीन कर और वृक्ष की जड़ के पास पड़े अन्य शुकों के कुतरे हुए फलों के टुकड़ों को बीन कर मुझे खिलाते थे । इस भाँति प्रति-दिन मुझे खिला कर जो कुछ बच रहता वह आप खाते थे ।

इसी रीति से कुछ काल बीतने पर एक दिन प्रातःकाल ही मैंने उस महावन में सहसा अहेरियों का भीषण कलरव सुना । उस समय चन्द्रमा मन्दाकिनी के किनारे से पश्चिमीय समुद्र-तट पर उतर रहा था, मोर जाग चुके थे, सिंह जँभाई ले रहे थे और रात को ओस पड़ने से जिनकी केसर ठिठुर गई थी ऐसे फूल सूर्योदय होने पर पेड़ों से गिरने लगे थे । फिर कुछ समय जब और बीता तो सूर्य स्पष्ट दिखाई देने लगा और सुग्गों के झुंड सदा की भाँति अपनी अभीष्ट दिशाओं में उड़ गए । उस समय घोसलों में केवल उनके बच्चे निर्भय सो रहे थे जिससे सर्वत्र नीरवता में व्याप्त होने के कारण वह महावृक्ष शून्य लग रहा था ।

मेरे पिता भी उस समय घोंसले में ही बैठे थे और मैं उनके पास ही वाले नीड़ में बैठा था । बाल्यावस्था के कारण मेरे पंखों

में उड़ने की शक्ति नहीं थी। कुछ ही दंड और बीतने पर वन में अहेरियों की कोलाहल-ध्वनि अधिकाधिक होने लगी जिससे सब वनचर डरने लगे। ऐसे अश्रुत-पूर्व शब्द को सुन कर मैं भी काँपने लगा। बालक होने के कारण उस भीषण ध्वनि से मेरे कर्ण विवर जर्जरित हो गए और मैं भयविह्वल हो आश्रय लेने की आशा से पास बैठे हुए अपने पिता के जरा-शिथिल पंखों के भीतर झटपट घुस गया। फिर तो कुछ ही देर में महा-कोलाहल करता हुआ अहेरियों का एक झुंड दिखाई देने लगा जो वृक्षों की झाड़ियों में अपना तन छिपा रहे थे, पर आपस में इस प्रकार कहते जा रहे थे—"देखो! उधर सूखे हुए पत्तों की खड़खड़ाहट सुनाई दे रही है, कुत्तों को छोड़ दो! यह लो, इस शब्द को सुनो और वृक्ष की चोटी पर चढ़ कर दृष्टि को चारों ओर फेंको! धनुष लो और सावधान होकर खड़े हो जाओ!"

इस कोलाहल से तत्काल समस्त वन क्षुभित हो गया। कहीं भीलों के बाणों से घायल हुए सिंहों का निनाद हो रहा था और कहीं भैंसों के कठिन कंधों पर गिरती हुई तलवारों के रणत्कार के साथ साथ श्वानों की घुरघुराहट हो रही थी। ऐसे भीषण चीत्कार से वह वन मँथ उठा। कुछ काल तक ऐसी उथल-पुथल रहने के उपरांत अहेरियों का कोलाहल जाता रहा और वन पुनः एकाएक पूर्ववत् शान्त हो गया। तब मेरा भय भी कुछ कम हुआ और बालकपन के कारण कुतूहल उत्पन्न होने से वहाँ क्या हुआ था यह देखने के लिए मैंने अपनी गर्दन पिता की गोद से तनिक बाहर निकाली। उस दिशा की ओर आँखें उठाते ही मैंने उसी ओर दूसरे वन में से आती हुई सहस्रों भीलों की एक सेना देखी जो यम के भटकते हुए परिवार की भाँति अत्यंत भयंकर जान पड़ती थी।

उस बृहत् शबर-सेना के बीच में मैंने उनके तरुण भील-सेनापति को देखा। उपरांत मुझको उसका नाम मातंग सुन पड़ा। आकार में वह मातंग बहुत भयंकर था और अत्यंत कठोरता के कारण वह ऐसा लगता था मानो उसका शरीर आयस का ही हो। उसका ललाट चौड़ा था, नाक ऊँची तथा डरावनी थी तथा कंधे पर बिखरे घूँघरवाले बालों से वह गजमद से मलीन केसर वाले सिंह की भाँति दीख रहा था। ऊँची कराल भृकुटि के कारण उसका मस्तक, जिस पर तीन बलें पड़ी हुई थीं, अधिक क्रूर लगता था; और लाख रंग का जो लाल कौशेय वस्त्र उसने पहन रखा था, उससे ऐसा विदित होता था मानो उसकी प्रबल आराधना से प्रसन्न होकर कात्यायनी ने उस पर अपना त्रिशूल अंकित कर दिया हो! उसके पीछे-पीछे उसके परिचित श्वान, जिनके गले में बड़ी बड़ी कौड़ियों के कंठे पड़े थे, अपनी बाहर निकली हुई जिह्वाओं से अपना श्रम प्रकट करते हुए चले जा रहे थे!

सेनापति मातंग के आसपास बहुत से भीलों के झुंड चले आ रहे थे। उनमें से कितनों ही के पास चमर मृग के बाल, हाथी-दाँत और सिंहचर्म की गठरियाँ थीं जिन्हें लिए हुए वे महादेव के गणों की भाँति लग रहे थे। उनको देख मैंने मन ही मन कहा—"अहो! इन लोगों का जीवन कैसा अज्ञानपूर्ण और निंदित है! यह मांस की बलि देना ही धर्म समझते हैं और पशुओं के रुधिर से ही देवताओं की पूजा करते हैं, उलूक से ही यह शकुन विचारते हैं और जिस वन के आश्रय में रहते हैं उसीको उच्छिन्न कर देते हैं।"

मैं इस प्रकार सोच ही रहा था तब तक आखेट का श्रम दूर करने की इच्छा से वह सेनापति उसी सेमल के वृक्ष के नीचे आकर रुका और अपना धनुष नीचे रख परिजनों द्वारा शीघ्र

लाई हुई पत्तों की चटाई पर बैठ गया। तब तक तरुण भील झटपट उस तालाब में पैठ गया और कमल की कलियों की रज से सुगंधित शीतल जल को उसने अपने दोनों हाथों से हिलोर कर कमल-पत्र के दोनों में भरा। फिर नरम-नरम थोड़ी कमल की जड़ों को चुन कर वह अपने सेनापति के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। सेनापति ने बड़े सन्तोष से वह जल पिया और धीरे धीरे उस मृणालिका को सुखपूर्वक खाना आरम्भ किया। उसे खाते समय ऐसा लग रहा था मानो राहु चन्द्रकला का ग्रास करता हो।

इस प्रकार खा-पीकर थोड़ी देर में विश्राम पा वह उठ खड़ा हुआ और उसकी समस्त सेना भी जल पीकर उसके पीछे-पीछे अभीष्ट दिशा में चली गई। परन्तु चांडालों के उस झुंड में का एक बूढ़ा भील पीछे छूट गया। उसे वन-पशुओं का मांस नहीं मिल पाया था इससे मांस प्राप्त करने के अभिप्राय से वह उस शाल्मली वृक्ष के नीचे थोड़ी देर तक अप्रतिभ खड़ा उसे निहारता हुआ क्रूरकर्मा राक्षस के समान भयंकर और अशुभ दिखाई पड़ता रहा। जब उसका सेनापति एकदम अदृश्य हो गया तब पक्षियों का मांस खाने के लालची श्येन के समान उस वृद्ध भील ने उस वृक्ष को जड़ से शिखा तक बड़े ध्यान से देखा। जिस समय वह वृक्ष को देख रहा था उस समय ऐसा लगता था मानो वह उस वृक्ष में बसे हुए समस्त बाल-विहगों की आयु को ही पिये जा रहा हो! उसकी उस दृष्टि से भयभीत उसमें जो पंछी थे उनके प्राण मानों उसी क्षण निकल गए!

वह वृक्ष यद्यपि कई ताल वृक्षों के समान ऊँचा था और उसकी चोटी की डालियाँ मानों आकाश से ही टकराती थीं, तो भी वह बूढ़ा उस पर इस भाँति सुगमता से चढ़ गया जैसे किसी नसेनी पर चढ़ रहा हो! ऊपर पहुँच कर वह जैसे वृक्ष

के फल तोड़ता हो उस भाँति डालियों की संधि और कोटरों के भीतर से सुग्गों के बच्चों को निकाल-निकाल कर और उनके प्राण ले-लेकर भूमि पर पटकने लगा। कितने ही बाल-विहग थोड़े ही दिन पहिले के जनमे हुए थे अतः वे अभी भली भाँति आँख खोल कर संसार को देख भी नहीं पाए थे। उनमें से कितने पंख न निकलने से गर्भ की ही लालिमा धारण किए हुए सेमर के फूल जैसे लगते थे, कितने ही पंख निकल आने से नलिनी के नरम पत्र के समान दिखाई पड़ते थे, और कितने ही अपने अनवरत शिर-कंपन द्वारा मानो असहाय हैं, दया करो, कहकर उससे अपने प्राणों की भीख माँग रहे थे!

ऐसा प्राणहारी महाभयंकर उपद्रव एकदम सामने आ गया देख मेरे पिता का कंप बढ़कर दूना हो गया। मरण के भय से जिनकी पुतलियाँ ऊँची और चंचल हो रही थीं उन आँसू-भरे अपने नैनों को वे बारंबार दशों दिशाओं में फेंकते रहे, पर हाय वहाँ सब शून्य ही शून्य था और उन्हें तिनके का सहारा बनने वाला भी कोई उपाय न मिला! उस समय मेरे ऊपर उनका स्नेह अति अगाध प्रकट हुआ। अपनी रक्षा का कोई उपाय न होने पर भी मेरी रक्षा के लिए व्याकुल हो उन्होंने अपने पंखों में मुझे ढँप लिया। मुझे अब भी भली प्रकार स्मरण है, उस समय उनका तालू सूख गया था और अत्यंत भय के कारण पंख शिथिल हो गए थे। इतने में उस अत्यंत पापी और क्रूर भील ने अन्य डालियों में से होता हुआ हमारी डाल पर आकर यमदंड के समान अपने बाएँ हाथ को जिसमें से वनवराह के मांस की गंध आ रही थी, हमारे कोटर-द्वार पर फैलाया। उसका हाथ भीतर पहुँचते ही मेरे पिता उस पर बार-बार चोंच का प्रहार कर चीत्कार करने लगे, किन्तु उसने पल भर में ही उन्हें बाहर खींच

कंठ घोंट प्राणरहित कर दिया। मेरा शरीर बहुत ही स्वल्प था और मेरे अंग भय से सिकुड़ गए थे, इससे उसने पिता के पक्ष-संपुट में छिपा मुझे नहीं देख पाया। उसने मेरे मृत पिता को गरदन लटका नीचे भूमि पर पटक दिया और चुपचाप उनकी छाती में छिपा हुआ मैं भी उनके साथ ही नीचे गिरा! पर मेरे पुण्य कुछ अवशेष रहे थे इसी कारण मैं वायु द्वारा एकत्रित शुष्क पत्तों की ढेरी पर जा गिरा, जिससे मेरे शरीर में चोट नहीं आई। मैं निकल भागूँ तो उस भील के हाथ में न पड़ूँ अब इस बात की मुझे विशेष चिंता हुई। अतः वह जब तक उस वृक्ष की चोटी पर से नीचे आए मैंने अपने गिरे हुए पिता को मृत्यु के समय भी छोड़ दिया। आगे जीवन में जो स्नेह उपजा उसका मुझे उस काल अनुभव नहीं हुआ था। राजन्! उस समय को स्मरण कर आज ग्लानि और करुणा से मुझ नीच का हृदय फटा जाता है!

मृत्यु के मुख में से उस समय अपने को निकला समझ मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं तुरन्त पास के एक बड़े तमाल वृक्ष की जड़ में इस प्रकार घुस गया मानों वह मेरे पिता का ही उत्संग हो। वह भील भी तब तक वृक्ष पर से उतरा और भूमि पर मृत पड़े हुए बाल शुकों को जल्दी जल्दी इकट्ठा करके जिधर सेनापति गया था उसी ओर तत्काल चला गया। तब मुझे जीने की आशा तो हो गई, परन्तु उसी समय पिता के मरने के शोक से मेरा हृदय सूखने लगा! बहुत ऊँचाई से गिरने के कारण अत्यन्त घुस लगने से मेरे शरीर में बड़ी पीड़ा होने लगी और साथ ही शरीर के समस्त अंगों को तपाती हुई बलवती पिपासा भी मुझे विकल करने लगी। कुछ समय पश्चात् मैं उस चांडाल को दूर चला गया समझ कर तमाल वृक्ष की जड़ से बाहर

निकला और अपनी पिपासा बुझाने के लिए सलिल समीप पहुँचने का प्रयत्न करने लगा।

अजातपक्ष होने के कारण मेरे चरणों में स्थिर संचरण नहीं था अतः मैं क्षण-क्षण मुँह के बल गिरता जा रहा था। थकान से कुछ ही समय में मेरी श्वास फूलने लगी। अब धूप के कारण धूल भी गरम होने लगी थी जिससे तप्त भूमि में चलने के अनभ्यस्त पैर उस भूमि में मुझसे नहीं रखे जाते थे। अब प्यास भी उत्तरोत्तर बढती ही जा रही थी। परिणाम स्वरूप शीघ्र ही मेरी आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा। उस क्षण प्रथम बार मुझे जीवन में महान् ग्लानि का अनुभव हुआ और मैं बार-बार मन में कहने लगा, "यदि विधाता मेरी इच्छा बिना भी इसी समय मेरे प्राण हर लेता तो बहुत अच्छा होता!"

मैं इस भाँति विचार कर ही रहा था तब तक उस कमल-सरोवर से थोड़ी दूर किसी तपोवन में रहने वाले ऋषि-कुमार उसी तड़ाग में स्नानार्थ आए। उनके ही वय के अन्य ऋषि-कुमार भी उसी मार्ग से उनके पीछे पीछे आ रहे थे। मुझे उनका अन्तःकरण सब विद्याओं के पढ़ने से सनत्कुमार की भाँति शुद्ध हो गया प्रतीत होता था। अतः उनके अत्यन्त पवित्र दर्शन की प्राप्ति से मेरे मन में उनके प्रति बहुत श्रद्धा उत्पन्न हुई। अनेक तीर्थों के स्नान से पवित्र हुई उनकी जटा, जो तपाए हुए लोहे के समान लाल थी, कंधे पर लटक रही थी और उनके दाहिने कान में जो स्फटिक रुद्राक्ष की माला लटक रही थी वह तपोवन की देवी के नूपुर और धर्मोपदेशों की राशि के समान पवित्र दीख रही थी! तेज के कारण उनकी मूर्ति का निरीक्षण करना कठिन था। वह मानो उदय होते सूर्यमंडल में से उत्कीर्ण किये गये थे और तप्त सुवर्ण के द्रव से मानों उनका शरीर चमकाया गया

था ! आगे चल कर मुझे यह ज्ञात हुआ कि वे महातपस्वी जाबालि मुनि के पुत्र थे और उनका नाम हारीत था।

सज्जनों का चित्त प्रायः बिना कारण ही प्रीति करने वाला और करुणा से आर्द्र होता है अतः मुझे ऐसी दशा में देखते ही उन्हें मुझ पर दया आ गई और वे अपने पास खड़े एक ऋषि-कुमार से बोले—"देखो जी ! इस शुक-शिशु को अभी पंख भी नहीं निकले हैं किन्तु यह बेचारा न जाने कैसे वृक्ष की चोटी से नीचे गिर पड़ा है। देखो कैसा यह रह-रह कर लोचन बंद कर रहा है, मुँह के बल बारंबार गिरता जा रहा है और रह-रह कर किस दीनता से दीर्घ दीर्घ साँस लेता हुआ अपने चंचु-पुट खोलता है किन्तु शिरोधरा ऊपर उठा रखने की भी शक्ति इसमें नहीं है ! चलो, इसे उठा कर जल के पास तो पहुँचा दिया जाय।" ऐसा कह कर उन ऋषिकुमार ने मुझे उठा लिया और तड़ाग के किनारे ले आए। तब आप अपना दंड और कमंडलु एक ओर रख मुझे हाथ में ले मेरा मुँह ऊँचा कर अपनी अंगुलियों से जल की बूँदें मेरे शुष्क कंठ में डालने लगे। आह सुख और कृतज्ञता के उस क्षण की स्मृति मैं जन्मजन्मांतर तक सँजो रखना चाहता हूँ। पानी की शीतल बूँदें ज्यों ही कंठ से नीचे उतरीं त्यों ही मुझमें प्राण आ गए। इस प्रकार मैं कुछ सचेष्ट हो गया और उन मुनि कुमार ने तट पर उगे हुए कमल के पत्तों की शीतल छाया में मुझे रख कर यथाविधि स्नान किया और स्नान के पश्चात् अपने कमंडलु में उस सरोवर का पवित्र जल भर कर धीरे-धीरे मुझे लिए हुए तपोवन की ओर गमन किया।

सरोवर से हम बहुत दूर न गए थे कि इतने में वह रमणीक आश्रम दिखाई दिया जहाँ ताल, तिलक, तमाल, हिंताल और मौलसिरी के वृक्षों की घनी छाया में दिनरात पड़ती हुई घी को

आहुति से संतुष्ट हुए अग्नि ने मानो सब मुनियों को सशरीर स्वर्ग ले जाने की इच्छा से ऊँची उठती हुई धूम-लेखा के बहाने गगन-मार्ग में सीढ़ियों का सेतु बाँध रखा था! और उस आश्रम के चारों ओर जो बावलियाँ थीं उनमें फूले कुमुद ऐसे लगते थे मानों रात्रि में ऋषियों की सेवा करने के लिए तारागण नीचे उतर आए हों! मानों ऋषियों के आशीर्वाद से वहाँ के वृक्षों को निरन्तर फूलने-फलने की संपन्नता प्राप्त हुई थी इसीलिए वे दिन-रात फूल गिरा-गिरा कर उस आश्रम की पूजा करते रहते थे। ऐसे उस दिव्य आश्रम में हिरनियाँ अपनी नव-पल्लव के समान कोमल जिह्वाओं से मुनियों के बालकों को चाटती थीं और अत्यंत हिले हुए शाखामृग आश्रम के बूढ़े और अंधे तपस्वियों को अपने हाथ से पकड़ कर भीतर-बाहर ले जाया करते थे!

उस आश्रम के ठीक मध्य भाग को शोभित करता हुआ एक लाल अशोक का वृक्ष लाख के रंग के लाल लाल पत्तों से लदा हुआ खड़ा था जिसे देख कर ऐसा लगता था मानों वन-देवी ने अपनी विशालहृदयता की समस्त लालिमा वहीं संचित कर दी हो! मुनिगण उसकी डालियों पर अपने काले मृग-चर्म और जल-पात्र लटका कर निश्चिंत रहते थे और उसके चारों ओर जो क्यारियाँ बनी थीं उनमें हिरन के बच्चे सुखपूर्वक जल पिया करते थे। मैंने उसी अशोक की छाया में बैठे हुए जाबालि मुनि का पवित्र दर्शन पाया। हारीत ने मुझे उनके निकट उसी अशोक की छाया में एक जगह धर दिया और अपने पिता की चरण वंदना करके वह उनसे तनिक दूर पड़े हुए कुशा के आसन पर बैठ गए। उधर आश्रम में मेरे लाए जाने की वार्ता क्षण भर में ही फैल गई थी, अतः अन्य सब मुनि मुझे देख-देख कर उनसे पूछने लगे—"कहो बन्धु! इसे कहाँ से ले आए?" उन्होंने

कहा—"भाई ! मैं जिस समय स्नान करने जा रहा था उस समय मैंने देखा कि यह पक्षी, सरोवर के तीर किसी वृक्ष के घोंसले से गिर कर गरम-गरम भभकती रेती में पड़ा निष्प्राण सा हो रहा था। इसकी दयनीय दशा देख मुझे बड़ी करुणा हुई, पर उस बड़े वृक्ष पर तपस्वी का चढ़ना अत्यंत कठिन जान मैं इसे अपने संग लेता आया। इसलिए अब मेरी यह इच्छा है कि जब तक इसके पंख न निकल आएँ और यह अंतरिक्ष में सुखपूर्वक उड़ने योग्य न हो जाए तब तक इसी आश्रम में पड़ा रहे।"

मेरे संबंध में यह सब सुन कर जैसे भगवान जाबालि को भी कुछ कुतूहल उत्पन्न हुआ और वह अपनी गरदन किंचित् मोड़ कर अत्यंत शांत दृष्टि से परिचित की भाँति मुझे बहुत समय तक देखते रहे। इस भाँति कुछ काल तक बार-बार देख कर वे बोल उठे—"अरे ! यह है ? यह बिचारा तो अपने ही अविनय का फल भोग रहा है !"

महामुनि जाबालि में त्रिकालदर्शी महात्मा होने से अपनी तपस्या के बल से पूर्वजन्मों का सकल वृत्तान्त जानने की क्षमता होने से उनका यह वाक्य सुनते ही उन सब लोगों को बहुत कुतूहल हुआ और वे लोग महामुनि से प्रार्थना करके बोले—"भगवन् ! कृपापूर्वक आप हम लोगों को यह बतला दो कि यह कौन है और किस अविनय का किस प्रकार फल भोग रहा है ?"

तपस्वियों की यह प्रार्थना सुन कर महामुनि बोले—"वत्स ! इसकी अति आश्चर्यजनक कहानी बड़ी लंबी है। अब दिन थोड़ा ही बचा है, और मुझे अभी स्नान भी करना है। अतः तुम लोग जाकर नित्य-कर्म तथा पूजनादि सम्पन्न करो। फिर सायंकाल

जब तुम लोग फल-मूलों का अपना आहार कर लोगे और निश्चित होकर बैठोगे तब मैं इसकी अति मनोहर कथा आरंभ से कहूँगा, और मैं जैसे-जैसे कहता जाऊँगा वैसे-वैसे इसको अपने पूर्वजन्म का ज्ञान ठीक-ठीक इस प्रकार होता जायगा मानो वह सब घटनाएँ इसके स्वप्न में ही घटी हों।

मुनि के यह कहते कहते दिन फूल गया और कबूतर के कोमल चरण की भाँति गुलाबी सूर्य आकाश के मध्य से नीचे की ओर लटकने लगा। फिर सूर्य अस्त हुआ और पश्चिमी समुद्र-तट में से निकलती लाल-लाल संध्या प्रवाल-लता के समान अवगत होने लगी, आश्रम में शान्ति और निष्ठा का आनंद व्याप्त होने लगा और मुनिगणों द्वारा होम की धेनु दुही जाने लगी। कुछ काल में ही सन्ध्या का क्षय हो गया और तब मुनियों के हृदय को छोड़ समस्त आश्रम में अंधकार छा गया। फिर जब चंद्रमा का उदय हुआ तो संपूर्ण वसुधा सुधा-धूलि के समान शीतल चन्द्रिका से श्वेत हो गई और खिले हुए कुमुद-वन का गंध लानेवाली यामिनी के प्रथम प्रहर की वासंती वायु मंथर-मंथर बह कर जगत को आनन्द का अमृत पिलाने लगी! इस प्रकार जब आध पहर रात बीत गई तब हारीत स्वयं आहार कर मुझे ले मुनियों के साथ अपने पिता के समीप गए और अत्यंत विनय-पूर्वक उनसे बोले—"पिता जी! इस शुक का आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनने के लिए सब तपस्वियों का हृदय उत्सुक हो रहा है और देखिए वे सब मंडल बाँध कर आपके पास खड़े हैं। इसकी थकावट भी अब जाती रही है। अतः आप अब कृपा कर हम से कहिए यह कौन है? यह पहिले क्या था? इसने पूर्वजन्म में क्या किया था तथा अब इसका होनहार क्या है?"

हारीत के यह प्रिय वचन सुन कर तथा उन समस्त मुनियों को एकाग्रचित्त से श्रवण में तत्पर जान महामुनि ने उस सुए की तीनों लोकों में अमर हो व्याप्त होने वाली अद्भुत कथा आरंभ की।

प्रश्न

१—बाणभट्ट कौन थे ? उनके साहित्यिक महत्त्व के विषय में आप क्या जानते हैं ?

२—वैशंपायन सुआ कौन था ? वह तिर्यग्योनि में किस प्रकार पतित हुआ था ?

९—महामात्य चाणक्य

[श्री जयशंकर "प्रसाद"]

[सिंधुतट—पर्णकुटीर : चाणक्य और कात्यायन]

चाणक्य—कात्यायन, सो नहीं हो सकता ! मैं अब मंत्रित्व नहीं ग्रहण करने का। तुम यदि किसी प्रकार मेरा रहस्य खोल दोगे तो मगध का अनिष्ट ही करोगे।

कात्यायन—तब मैं क्या करूँ ? चाणक्य, मुझे तो अब इस राजकाज में पड़ना अच्छा नहीं लगता।

चाणक्य—जब तक गांधार का उपद्रव है, तब तक तुम्हें बाध्य होकर करना पड़ेगा। बताओ, नया समाचार क्या है ?

कात्या०—राक्षस सिल्यूकस की कन्या को पढ़ाने के लिये वहाँ रहता है, और यह सारा कुचक्र उसी का है ! वह इन दिनों बाह्लीक की ओर गया है। मैं अपना वार्तिक पूरा कर चुका इसीलिये मगध से अवकाश लेकर आया था। चाणक्य, अब मैं मगध जाना चाहता हूँ। यवन शिविर में अब मेरा जाना असंभव है।

चाणक्य—जितना शीघ्र हो सके, मगध पहुँचो। मैं सिंहरण को ठीक रखता हूँ। तुम चन्द्रगुप्त को भेजो। सावधान, उसे न मालूम हो कि मैं यहाँ हूँ ! अवसर पर मैं स्वयं उपस्थित हो

जाऊँगा। देखो, शकटार और तुम्हारे भरोसे मगध रहा ! हाँ कात्यायन, यदि सुवासिनी को भेजते तो कार्य में आशातीत सफलता होती। समझे ?

कात्यायन—(हँस कर) यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि तुम······सुवासिनी अच्छा······विष्णुगुप्त ! गार्हस्थ्य जीवन कितना सुन्दर है !

चाण०—मूर्ख हो, अब हम तुम साथ ही ब्याह करेंगे !

कात्या०—मैं ? मुझे नहीं···मेरी गृहिणी तो है !

चाण०—(हँस कर)—एक ब्याह और सही। अच्छा बताओ, काम कहाँ तक हुआ ?

कात्या०—(पत्र देता हुआ)—हाँ यह लो, यवन शिविर का विवरण है। परन्तु, विष्णुगुप्त, एक बात कहे बिना न रह सकूँगा। यह यवन-बाला सिर से पैर तक आर्य-संस्कृति में पगी है। उसका अनिष्ट ?

चाण०—(हँस कर)—कात्यायन तुम सच्चे ब्राह्मण हो ! यह करुणा और सौहार्द्र का उद्रेक ऐसे ही हृदयों में होता है। परन्तु मैं—निष्ठुर ! हृदयहीन ! मुझे तो केवल अपने हाथों खड़ा किये हुए एक साम्राज्य का दृश्य देख लेना है।

कात्या०—फिर भी चाणक्य, उसका सरल मुखमंडल ! उस लक्ष्मी का अमंगल !

चाण०—(हँस कर)—तुम पागल तो नहीं हो गये हो ?

कात्या०—तुम हँसो मत चाणक्य ! तुम्हारा हँसना तुम्हारे क्रोध से भी भयानक है ! प्रतिज्ञा करो कि उसका अनिष्ट न करूँगा। बोलो !

चाण०—कात्यायन ! अलक्षेंद्र कितने विकट परिश्रम से भारतवर्ष से बाहर किया गया—यह तुम भूल गये ? अभी है

कितने दिनों की बात। अब इस सिल्यूकस को क्या हुआ जो चला आया! तुम नहीं जानते कात्यायन, इसी सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त की रक्षा की थी! नियति अब इन्हीं दोनों को एक दूसरे के विपक्ष में खड्ग खींचे हुए खड़ा कर रही है!

कात्या०—कैसे आश्चर्य की बात है!

चाण०—परन्तु इससे क्या! वह तो होकर रहेगा, जिसे मैंने स्थिर कर लिया है! वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल में बिजली के समान नाच उठती है! फिर मैं क्या करूँ?

कात्या०—तुम निष्ठुर हो!

चाण०—अच्छा, तुम सदय होकर एक बात कर सकोगे, बोलो! तुम चंद्रगुप्त और उस यवन-बाला के परिणय में आचार्य्य बनोगे?

कात्या०—क्या कह रहे हो। यह हँसी!

चाण०—यही है तुम्हारी दया की परीक्षा—देखूँ तुम क्या करते हो! क्या इसमें यवन-बाला का अमंगल है?

कात्या०—(सोच कर) मंगल है; मैं प्रस्तुत हूँ।

चाण०—(हँस कर) तब तुम निश्चय ही एक सहृदय व्यक्ति हो!

कात्या०—अच्छा, तो मैं जाता हूँ।

चाण०—हाँ जाओ। स्मरण रखना, हम लोगों के जीवन में यह अंतिम संघर्ष है! मुझे आज आंभीक से मिलना है। यह लोलुप राजा, देखूँ क्या करता है!

[कात्यायन का प्रस्थान—चर का प्रवेश]

चर—महामात्य की जय हो!

चाण०—इस समय जय की बड़ी आवश्यकता है। आंभीक को यदि जय कर सका तो सर्वत्र जय है! बोलो, आंभीक ने क्या कहा?

चर—वे स्वयं आ रहे हैं।

चाण०—आने दो, तुम जाओ।

[चर का प्रस्थान—आंभीक का प्रवेश]

आंभीक—प्रणाम, ब्राह्मण देव!

चाण०—कल्याण हो, राजन्! तुम्हें भय तो नहीं लगता? मैं एक दुर्नाम मनुष्य हूँ!

आंभीक—नहीं आर्य्य, आप कैसी बात कहते हैं!

चाण०—तो ठीक है। स्मरण है, इसी तक्षशिला के मठ में एक दिन मैंने कहा था—"सो कैसे होगा अविश्वासी क्षत्रिय! तभी तो म्लेच्छ लोग साम्राज्य बना रहे हैं और आर्य जाति पतन के कगारे पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है!'

आंभीक—स्मरण है।

चाण०—तुम्हारी भूल ने कितना कुत्सित दृश्य दिखाया, इसे भी संभवतः तुम न भूले होगे?

आंभीक—नहीं।

चाण०—तुम जानते हो कि चंद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के स्वर्ण-गिरि से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक, एक महान् साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य्य-साम्राज्य है। उत्तरापथ के सब प्रमुख गणतंत्र मालव, क्षुद्रक, और यौधेय आदि सिंहरण के नेतृत्व में इस साम्राज्य के अंग हैं। केवल तुम्हीं इससे अलग हो! इस द्वितीय यवन आक्रमण

से तुम भारत के द्वार की रक्षा कर लोगे, या पहिले ही के समान उत्कोच लेकर, द्वार खोलकर, सब झंझटों से अलग हो जाना चाहते हो ?

आंभीक—आर्य्य, वही त्रुटि बार बार न होगी !

चाण०—तब साम्राज्य झेलम-तट की रक्षा करेगा। सिंधुतट का भार तुम्हारे ऊपर रहा !

आंभी०—अकेले मैं यवनों का आक्रमण रोकने में असमर्थ हूँ !

चाण०—फिर उपाय क्या है ?

[नेपथ्य से जयघोष, आंभीक चकित होकर देखने लगता है।]

चाण०—क्या है, सुन रहे हो ?

आंभी०—समझ में नहीं आया। (नेपथ्य की ओर देखकर) वह एक स्त्री आगे-आगे कुछ गाती हुई आ रही है और उसके साथ बड़ी-सी-भीड़—(कोलाहल समीप होता है।)

चाण०—आओ, हम लोग अलग हट कर देखें। (दोनों अलग छिप जाते हैं)

[आर्य-पताका लिये अलका का गाते हुये, भीड़ के साथ प्रवेश]

अलका—तक्षशिला के वीर नागरिको ! एक बार, अभी अभी सम्राट् चंद्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था, आर्य्यावर्त—प्यारा देश—ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पद-दलित होने जा रहा है; तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखों से देखेगा। तुम्हारा राजा कायर है और तुम ?

नागरिक—हम लोग उसका परिणाम देख चुके हैं माँ! हम लोग प्रस्तुत हैं।

अलका—यही तो।—(समवेत स्वर से गायन)

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृ भूमि के—
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिंधु में-सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो।

[सब का प्रस्थान]

आंभीक—यह अलका है! तक्षशिला में उत्तेजना फैलाती हुई—यह अलका!

चाण०—हाँ आंभीक! तुम उसे बंदी बनाओ; मुँह बंद करो!

आंभीक—(कुछ सोचकर) असंभव! मैं भी साम्राज्य में सम्मिलित होऊँगा।

चाण०—यह मैं कैसे कहूँ? मेरी लक्ष्मी—अलका-ने आर्य्य-गौरव के लिये क्या क्या कष्ट नहीं उठाये! वह भी तो इसी वंश की बालिका है! फिर तुम तो पुरुष हो, तुम्हीं सोच देखो।

आंभीक—व्यर्थ का अभिमान अब मुझे देश के कल्याण में बाधक न सिद्ध कर सकेगा। आर्य्य चाणक्य, मैं आर्य्य-साम्राज्य के बाहर नहीं हूँ !

चाण०—तब तक्षशिला दुर्ग पर मागध सेना अधिकार करेगी ! यह तुम सहन करोगे ?

[आंभीक सिर नीचा करके विचारता है]

चाण०—क्षत्रिय ! कह देना और बात है, करना और।

आंभीक—(आवेश में) हार चुका ही हूँ; पराधीन हो ही चुका हूँ। अब स्वदेश के अधीन होने में उससे अधिक कलंक तो मुझे लगेगा नहीं, आर्य्य चाणक्य।

चाण०—तो इस गांधार और पंचनद का शासन-सूत्र होगा अलका के हाथ में और तक्षशिला होगी उसकी राजधानी; बोलो, स्वीकार है ?

आंभीक—अलका ?

चाण०—हाँ, अलका और सिंहरण इस महाप्रदेश के शासक होंगे।

आंभीक—सब स्वीकार है। ब्राह्मण ! मैं एक बार यवनों के सम्मुख अपना कलंक धोने का अवसर चाहता हूँ। रणक्षेत्र में एक सैनिक होना चाहता हूँ ! और कुछ नहीं।

चाण०—तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण हो।

[संकेत करता है—सिंहरण और अलका का प्रवेश]।

अलका—भाई ! आंभीक ?

आंभीक—बहिन ! अलका ! तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है। मैं भूल करता था, बहिन ! तक्षशिला के लिये अलका पर्याप्त है; आंभीक की आवश्यकता न थी !

अलका—भाई, क्या कहते हो !

आंभीक—मैं देश द्रोही हूँ ! नीच हूँ ! अधम हूँ ! तूने गांधार के राज वंश का मुख उज्ज्वल किया है ! राज्यासन के योग्य तू ही है ।

अलका—भाई ! अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया ! राज्य किसी का नहीं है ; सुशासन का है ! जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है । देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है ! स्वयं सम्राट चंद्रगुप्त तक इस महान् आर्य्य-साम्राज्य के सेवक हैं । स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं । जिसकी खड्ग प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है ! उसकी पूजा होगी । भाई ! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं; तक्षशिला आर्य्यावर्त का एक भू भाग है; वह आर्य्यावत की हो कर ही रहे, इसके लिये मर मिटो ! फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा । मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे । वहाँ की अप्सरायें विजय माला लेकर खड़ी होंगी । सूर्य मंडल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मंडित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायेगा !

चाण०—साधु ! अलके साधु !

आंभीक—(खड्ग खींचकर) खड्ग की शपथ—मैं कर्त्तव्य से च्युत न होऊँगा !

सिंहरण—(उसे आलिंगन करके) मित्र आंभीक ! मनुष्य साधारण-धर्मा पशु है, विचार शील होने से मनुष्य होता है और निस्वार्थ कर्म करने से वही देवता भी हो सकता है ।

[आंभीक का प्रस्थान]

सिंह०—अलका ! सम्राट किस मानसिक वेदना में दिन बिताते होंगे !

अलका—वे वीर हैं मालव, उन्हें विश्वास है कि मेरा कुछ कार्य्य है, उसकी साधना के लिये प्रकृति, अदृष्ट, दैव या ईश्वर, कुछ न कुछ अवलंब जुटा ही देगा! सहायक चाहे आर्य्य चाणक्य हों या मालव !

सिंह०—अलका, उस प्रचंड पराक्रम को मैं जानता हूँ। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि सम्राट् मनुष्य हैं। अपने से बार बार सहायता करने के लिये कहने में, मानव-स्वभाव विद्रोह करने लगता है। यह सौहार्द्र और विश्वास का सुन्दर अभिमान है। उस समय मन चाहे अभिनय करता हो संघर्ष से बचने का, किंतु जीवन अपना संग्राम अंध होकर लड़ता है। कहता है—अपने को बचाऊँगा नहीं, जो मेरे मित्र हों, आवें और अपना प्रमाण दें।

[दोनों का प्रस्थान]

[सुवासिनी का प्रवेश]

चाण० -सुवासिनी, तुम यहाँ कैसे !

सुवा०—सम्राट् को अभी तक आप का पता नहीं, पिता जी ने इसीलिये मुझे भेजा है। उन्होंने कहा— जिस खेल को आरंभ किया है, उसका पूर्ण और सफल अंत करना चाहिये।

चाण०— क्यों कर सुवासिनी ! तुम राक्षस के साथ सुखी जीवन बिताओगी, यदि इतनी भी मुझे आशा होती ...! यह तो यवन सेनानी है, और तुम मगध की मंत्रि कन्या ! क्या उससे परिणय कर सकोगी ?

सुवा०—(निश्वास लेकर) राक्षस से ! नहीं, असंभव। चाणक्य, तुम इतने निर्दय हो !

चाण०—(हँस कर) सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया—इसी विजन बालुका—सिंधु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी;

किंतु तुम्हारे एक भ्रूभंग ने उसे लौटा दिया! मैं कंगाल हूँ! (ठहर कर) सुवासिनी! मैं तुम्हें दंड दूँगा। चाणक्य की नीति में अपराधों के दंड से कोई मुक्त नहीं।

सुवा—क्षमा करो विष्णुगुप्त!

चाण०—असंभव है। तुम्हें राक्षस से ब्याह करना ही होगा, इसी में हमारा, तुम्हारा, और मगध का कल्याण है।

सुवा०—निष्ठुर! निर्दय!!

चाण०—(हँस कर) तुम्हें अभिनय भी करना पड़ेगा। उसमें समस्त संचित कौशल का प्रदर्शन करना होगा। सुवासिनी तुम्हें बंदिनी बनकर ग्रीक-शिविर में राक्षस और राजकुमारी के पास पहुँचना होगा—राक्षस को देश-भक्त बनाने के लिये और राजकुमारी की पूर्व स्मृति में आहुति देने के लिये। कार्नेलिया चंद्रगुप्त से परिणीता होकर सुखी हो सकेगी कि नहीं, इसकी परीक्षा करनी होगी।

[सुवासिनी सिर पकड़ कर बैठ जाती है]

चाण०—(उसके सिर पर हाथ रखकर) सुवासिनी! तुम्हारा प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ; और शैशव का वह सब; केवल हृदय की स्निग्धता थी। आज किसी कारण से राक्षस का प्रणय द्वेष में बदल रहा है; परंतु काल पाकर वह अंकुर हरा-भरा और सफल हो सकता है। चाणक्य यह नहीं मानता कि कुछ असंभव है। तुम राक्षस से प्रेम करके सफल हो सकती हो; क्रमशः उस प्रेम का सच्चा विकास हो सकता है। और, मैं अभ्यास करके तुमसे उदासीन हो सकता हूँ, यही मेरे लिये अच्छा होगा। मानव हृदय में यह भावसृष्टि तो हुआ ही करती है। यही हृदय का रहस्य है। तब,

हम लोग जिस सृष्टि में स्वतंत्र हों, उसमें परवशता क्यों मानें ? मैं क्रूर हूँ केवल वर्त्तमान के लिये ; भविष्य के सुख और शांति के लिये, परिणाम के लिये नहीं। श्रेय के लिये, मनुष्य को सब त्याग करना चाहिये ; सुवासिनी ! जाओ !

सुवा०—(दीनता से चाणक्य का मुँह देखती है) तो विष्णु गुप्त तुम इतना बड़ा त्याग करोगे ! अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रति-द्वन्द्वी को सौंप दोगे ? और सो भी मेरे लिये !

चाण०—(घबड़ा कर) मैं बड़ा विलंब कर रहा हूँ ! सुवासिनी आर्य्य दांड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिये मैं पथ भूल गया हूँ। मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान ; सूर्य्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना ; सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुये सीमा के बाहर न जाना ; यही तो ब्राह्मण का आदर्श है । मुझे चंद्र गुप्त को मेघ मुक्त चंद्र देखकर, इस रंगमंच से हट जाना है !

सुवा०—महापुरुष ! मैं नमस्कार करती हूँ। विष्णु गुप्त, तुम्हारी बहिन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है। (चरण पकड़ती है)

चाण०—(सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरते हुये) सुखी रहो !

[प्रस्थान]

प्रश्न

१—कात्यायन कौन था ?

२—आर्य साम्राज्य की स्थापना के लिये चाणक्य ने कौन कौन से त्याग किये थे ?

१०—"हाहाकार"

[श्री राखाल दास बन्द्योपाध्याय]

जिस समय युवती पट्ट महादेवी को पाकर वृद्ध सम्राट् कुमार गुप्तने अपने आपको विलास के समुद्र में डाल दिया था, जिस समय पाटलिपुत्र के प्राचीन राज-प्रासाद में नित्य महोत्सव हुआ करते थे, जिस समय प्रासाद के संगमरमर के कमरों में कादम्ब और गौड़ीय मद्य की नदियाँ बहा करती थीं, उस समय प्राचीन गुप्त साम्राज्य के पश्चिम प्रान्त में जन्म से ही सुख में पला हुआ और सदा आनन्द करने वाला पचीस वर्ष का युवक आर्यावर्त के उद्धार के लिये कमर कसकर तैयार हो रहा था। जिस समय नई पट्ट महादेवी अनन्ता ने वृद्ध महामंत्री दामोदर शर्मा को दंड की आज्ञा सुनाई थी उसी समय वह भूखा-प्यासा धूलि में लिपटा हुआ युवक दुर्बल घोड़े पर सवार पुरुषपुर के आस-पास पहाड़ियों पर घूमता उत्सुक नेत्रों से चारों ओर देख रहा था। जहाँ तक दृष्टि जाती थी केवल खंडहर और राख के ढेर दिखाई दे रहे थे। गांधार और उद्यान की सुप्रसिद्ध हरी-भरी और उपजाऊ भूमि की जगह युवक को केवल भीषण मरुभूमि ही दिखाई पड़ती थी। सामने पुरुषपुर नगर का पत्थर का बना राख से ढका निर्ज्जन प्रकोष्ट था। युवक टक लगाये राख के उन्हीं ढेरों की ओर देख रहा था। उसी समय उसके पीछे से एक दुबले-पतले उसी के समवयस्क दूसरे युवक ने

आकर उसके कन्धे पर हाथ रखा और पूछा—"तात क्या देख रहे हो ?"

पहला युवक चौंक पड़ा और दूसरे युवक की ओर देखकर बोला—कौन ? हर्ष ! बहुत दिनों के उपरांत पुरुषपुर नगर देख रहा था।

हर्ष० —क्या देखा ?

युवक—मैंने जो कुछ अपने मन में सोचा था वही देखा।

हर्ष०—तो तात ! हम भानु को किस प्रकार समझावेंगे ?

युवक—बन्धु ! जिसका काम सदा युद्ध करना ही हो. उसे कोई कैसे समझा बुझा सकता है ? क्षत्रिय लोग सब प्रकार के शोक और दुःख सहने का अभ्यास करके तब योद्धा बनते हैं। तलवार ही क्षत्रिय के लिये पिता, भाई, माता, बहिन और कन्या है। क्षत्रिय के लिये केवल तलवार ही स्त्री है और तलवार ही देवता है। भानुमित्र वीर हैं। उन्होंने सैकड़ों युद्धों में असाधारण वीरता दिखलाई है। उन्हें अधिक समझाने...

सहसा युवक का गला भर आया। उसके पीले पड़े हुये गालों पर दो बूँद आँसू टपक पड़े। यह देखकर हर्ष गुप्त ने कहा—युवराज ! जब आप ही रोने लग गये तब तो भानु न जाने और क्या करेंगे।

रुँधे हुये गले से युवराज ने कहा—तात ! माता जी करुणा का बहुत ही आदर करती थीं। कौन जानता था कि वह इस प्रकार हम लोगों के हाथों से निकल जायगी।

हर्ष०—तो क्या यह समझ लिया जाय कि करुणा अब इस संसार में नहीं है ?

स्कन्द०—भाई अभी तुम बालक हो। तुम क्या जानो कि करुणा क्षत्रिय की कन्या और क्षत्रिय की स्त्री थी। वह प्राण देना जानती थी।

हर्ष०—परन्तु यह तो बहुत ही अच्छी बात है कि वह हूणों के हाथों में नहीं पड़ी और स्वयं ही मर गई।

स्कन्द०—तो क्या तुम यह समझते थे कि हूणों ने उसे पकड़ लिया ?

हर्ष०—हाँ।

स्कन्द०—नहीं, स्वप्न में भी ऐसा विचार न करना। मैंने स्वयं उसे अस्त्र चलाना सिखलाया था। वह अपनी रक्षा करना भी जानती है और मर जाना भी !

सहसा पहाड़ के नीचे एक छोटे पहाड़ी मार्ग पर घोड़ों की टाप सुनाई पड़ी। हर्षगुप्त ने चौंककर कहा—तात ! भानु—

हर्षगुप्त के ये शब्द सुन कर युवराज के मुँह का रंग बदल गया। उन्होंने काँपते हुये स्वर से पूछा—क्यों हर्ष ! सेनादल कहाँ है ?

हर्ष०—वह तो पहाड़ी मार्ग में चला गया।

स्कन्द०—तुम शीघ्र जाओ और जाकर चक्रपालित तथा बन्धुवर्मा से कह दो कि वे मालव और सौराष्ट्र के सवारों को लेकर चटपट पुरुषपुर में प्रवेश करें।

हर्ष०—आप कहाँ जायँगे ?

स्कन्द०—मैं भानु को अकेले शत्रुओं के हाथ में नहीं जाने दूँगा। बात समाप्त होने के पहिले ही युवराज ने अपना घोड़ा बढ़ाया। यह देख कुमार हर्षगुप्त उनके पास चले गये और बोले—तात ! आप क्षण भर ठहरें; अभी सब सवार—

युवराज ने विरक्त होकर कहा—भाई, अब मुझे न रोको। बहुत दिनों से भानु के मुझ पर अनेक ऐसे ऋण हैं जिन्हें मैं आज तक चुका नहीं सका था। आज ईश्वर ने मुझे उन ऋणों का एक कण चुकाने का अवसर दिया है। तुम मेरे कारण विलम्ब न करो और तुरन्त मालव तथा सौराष्ट्र के सैनिकों को लेकर पुरुषपुर के फाटक पर आओ।

हर्ष०—परन्तु आर्य, आप इतना समझ लें कि यदि कहीं आप पर कोई आपत्ति आई तो सर्वनाश ही हो जायगा।

स्कन्द०—भाई, तुम तो दूत के मुँह से सुन ही चुके हो कि मगध-साम्राज्य में अब स्कन्दगुप्त की कोई आवश्यकता नहीं है। तो फिर सर्वनाश किसका होगा? व्यर्थ बातें करके समय नष्ट न करो और जहाँ तक शीघ्र हो सके पुरुषपुर के फाटक पर आओ। यदि मुहूर्त भर का विलम्ब हुआ तो तुम्हें भानु के अथवा मेरे शरीर का कहीं चिह्न भी न मिलेगा।

इतना कह कर युवराज शीघ्रतापूर्वक भानुमित्र के पीछे बढ़े। हर्षगुप्त ने एक मुहूर्त ठहर कर धीरे से कहा—देव! यदि आप आर्यपट्ट पर बैठेंगे तब तो मगध-साम्राज्य की रक्षा हो जायगी; और नहीं, तो स्वयं वासुदेव के चक्रधारण करने पर भी आर्यावर्त की रक्षा न होगी।

इतना कह कर कुमार हर्षगुप्त पहाड़ पर से उतरे और गिरि-संकट की ओर बढ़े।

युवराज स्कन्दगुप्त कोई आधे दंड में ही गिरि-संकट से पुरुषपुर के पश्चिम फाटक पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने घोड़े की रास छोड़ दी और एक हाथ में नंगी तलवार और दूसरे हाथ में एक बड़ा भाला ले लिया। सधा हुआ घोड़ा पत्थर के मार्ग पर

होता हुआ उस विशाल पश्चिमी फाटक में घुसा। स्कन्दगुप्त ने विस्मित होकर देखा कि फाटक, राज-मार्ग और अट्टालिकायें आदि सभी निर्जन हैं। फाटक के अधजले किवाड़ वहीं पड़े थे। प्राकार और फाटक के पास सैकड़ों मृत शरीर इधर उधर पड़े थे जिन्हें कुत्ते और गीदड़ निश्चिन्त होकर खा रहे थे। भीषण युद्ध के सभी चिह्न वहाँ वर्तमान थे। हाँ नगर में विजयी हूण सैनिकों के उपस्थित होने का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता था। युवराज की समझ में न आया कि अब क्या किया जाय। वे कुछ समय तक फाटक के पास ही (घोड़े को रोक कर) खड़े रहे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि कोई हूण आता जाता नहीं है तब उन्होंने फिर अपना घोड़ा बढ़ाया। घोड़ा करुणा के निवास-स्थान की ओर बढ़ा। जिस अट्टालिका में करुणादेवी और ऋषभदेव रहते थे उसके चारों ओर के उद्यान में बहुत से घोड़ों और मनुष्यों के पैरों के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। इतना ही नहीं, वह सारा उद्यान नष्ट-भ्रष्ट भी हो गया था। उसी स्थान पर भानुमित्र का घोड़ा निश्चिन्त भाव से घूम रहा था। यह देख कर अट्टालिका से कोई पचीस पग दूर ही युवराज अपने घोड़े पर से उतर पड़े। बहुत ही व्याकुल हो उन्होंने चिल्लाकर पुकारा—"भानु !" पुरुषपुर नगर के पत्थर के बने प्राकार में गूँज कर उनकी वह पुकार फिर उसी उद्यान में लौट आई। उस समय स्कन्दगुप्त ने भाला फेंक दिया और हाथ में केवल तलवार लेकर पागलों की भाँति उस निर्जन अट्टालिका में प्रवेश किया। तीसरे खंड पर पहुँच कर उन्होंने देखा कि वर्म पहिने हुये भानुमित्र अलिन्द में पत्थर की मूर्ति की भाँति निश्चल खड़े हैं। उन्होंने फिर व्याकुल होकर पुकारा —"भानु !" परन्तु फिर भी गौड़ीय महा-बलाधिकृत के कानों में उनका शब्द न पहुँचा। स्कन्दगुप्त ने आगे

बढ़कर भानुमित्र के कन्धे पर हाथ रखा। मानों पत्थर की मूर्ति हिली ! युवराज ने अपने मित्र को गले लगाकर पूछा—"भानु ! करुणा कहाँ है ?"

सहसा उस पत्थर की मूर्ति के हाथ की तलवार कोष के बाहर आई और झनकती हुई लोहे के शिरस्त्राण से जा मिली। इसके उपरान्त तलवार की नोंक उस कक्ष में पड़े सूखे हुये लहू की धार की ओर बढ़ी। अब मानों पत्थर की मूर्ति बोलने वाली थी ! उसने कहा—'बस देखिये यही तो है ! यही सूखा हुआ लहू कल उसके शरीर की नस नस में दौड़ रहा था।"

इतना कह कर मूर्ति फिर हिली। सैकड़ों युद्धों में बहुत ही वीरता पूर्वक लड़ने वाले योद्धा भानुमित्र का शरीर एक कोमलांगी के कोमल अंग का बहा हुआ रक्त देख कर मूर्छित हो गया और मानों आप से आप भूमि पर गिर पड़ा। उस समय स्कन्दगुप्त ने यह समझ कर कि वह रक्त करुणा का ही है आँसू भरी आँखों से उसकी ओर देखा। युवराज सोच रहे थे कि जो करुणा बाल्यावस्था से ही बड़े सुख और लाड़-प्यार से पली थी, उसने अपने कोमल शरीर पर अस्त्रों का आघात किस प्रकार सहा होगा। मृत्यु की कठोर मूर्ति को उसने किस प्रकार गले लगाया होगा !

जब भानुमित्र के मूर्छित होकर गिरने के कारण शब्द हुआ तब युवराज़ (स्कन्दगुप्त) चौंक पड़े। उन्होंने तुरन्त अचेत भानुमित्र का मस्तक अपनी गोद में ले लिया और रोते-रोते कहा—भानु ! क्या यही सब दिखलाने के लिये मैं तुम्हें पुरुषपुर लौटा लाया था ? करुणा के मर जाने पर अब तुम और कितने दिनों तक जीवित रह सकोगे ! अब तो हूण-युद्ध में तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है।

फिर स्कन्दगुप्त ने भानुमित्र का शिरस्त्राण और अंगरक्त खोल दिया। कोई क्षण भर में भानुमित्र सचेत हुये और तुरन्त उठ बैठे। तब युवराज ने पूछा—"भानु! तुम्हारा चित्त कुछ ठिकाने हुआ?"

सहसा उनकी ओर देख कर भानुमित्र ने पूछा—"युवराज! आप कब आये? करुणा कहाँ गई?"

युवराज ने धीरे-धीरे अपने मित्र के शिर पर हाथ फेरते हुये कहा—"बन्धु! परमेश्वर ने ही हम लोगों को करुणा दी थी और परमेश्वर ने ही फिर उसे ले लिया। तुम क्षत्रिय हो, वीर हो, योद्धा हो। शोक छोड़ दो। क्षत्रिय की कन्या और क्षत्री की पत्नी ने अपने धर्म की रक्षा के लिये अपना नश्वर शरीर छोड़ दिया। करुणा के अतुलनीय रूप का चिह्न अब संगमरमर पर का यह सूखा हुआ रक्त ही रक्त है।

सहसा भानुमित्र ठठाकर हँस पड़े। उनकी उस भीषण हँसी से वह सूनी अट्टालिका काँप उठी। उस हँसी की और भी भीषण प्रतिध्वनि क्षण ही भर में पत्थर के बने नगर-प्राकार में घूम कर लौट आई। उन्होंने कहा—"युवराज! कदाचित् आप में बुद्धि नहीं है। क्या आप समझते हैं कि करुणा मर गई?"

स्कन्द०—"मित्र! करुणा मगध-साम्राज्य की पट्ट महादेवी की पाली हुई कन्या थी। बर्बर हूणों का कलुषित हाथ कभी उसके सुन्दर और पवित्र शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता।"

भानुमित्र के ठहाके से पुनः वह अट्टालिका काँप उठी। उन्होंने कहा—"भूलते हैं युवराज! आप भूलते हैं। करुणा कभी मर नहीं सकती, मैं आपको स्पर्श करके शपथपूर्वक कहता हूँ, झूठ नहीं कहता। करुणा अभी तक मरी नहीं है। वह मर नहीं सकती।"

स्कन्द०—"भाई तुम शान्त हो। अपने चित्त को स्थिर करो। देखो, सामने विपत्तियों का पहाड़ है। हम लोगों को इसका परिशोध लेना पड़ेगा। युद्ध में कुल-बधू मारी गई है। वह असहाय और अस्त्रहीन स्त्री जंगलियों के अस्त्रों से मारी गई है। राज्य रसातल को चला जाय, राष्ट्रनीति समुद्र में डूब जाय, परन्तु इसका परिशोध अवश्य होगा। सुनो—"

भानु०—"युवराज! आप पागल हो रहे हैं। करुणा कभी मर ही नहीं सकती। इसी अलिन्द में चन्द्रमा की सुन्दर चाँदनी में उसने मुझे स्पर्श करके शपथपूर्वक कहा था कि मैं मरूँगी नहीं। चाहे जहाँ रहूँ और चाहे जब संभव हो, फिर लौट आऊँगी। युवराज! करुणा छिपी हुई है। वह जानबूझ कर किसी दूसरे कमरे में, किवाड़ की आड़ में अथवा झरोखे में छिप गई है। अभी यह अट्टालिका उसकी मधुर हँसी से गूँज उठेगी। करुणा! करुणा!!"

कातर कंठ की वह पुकार नगर-प्राकार में गूँज कर फिर लौट आई। परन्तु झरोखे अथवा किवाड़ की ओट में से कोमल हँसी नहीं सुनाई पड़ी, पत्थर की छत पर कोमल पैरों की आहट नहीं सुनाई पड़ी, और किसी के चंचल पगों के घुँघरुओं की झनकार भी नहीं हुई। भानुमित्र कातर स्वर से बार बार करुणा को पुकारते रहे। उनकी पुकार करुणा के कानों तक पहुँची या नहीं यह बात अन्तर्यामी ही जान सका होगा।

सहसा भानु मित्र उठकर पास ही की एक कोठरी में चले गये। उन्होंने समझा कि किवाड़ की आड़ में उस चंपक-वर्णी की आँचल शीघ्रता से एक ओर हटा है। तदुपरान्त भानुमित्र ने एक

एक करके उस निर्ज्जन अट्टालिका में चारों ओर करुणा की छाया-मूर्ति को पागलों की तरह ढूँढ़ना आरंभ किया। जब स्कन्द गुप्त ने देखा कि वह किसी प्रकार शान्त ही नहीं होते हैं, तब वह भी दुखित होकर उनके पीछे हो लिये। उसी समय सैकड़ों थके हुए मागध सैनिक अट्टालिका के सामने एकत्र हो रहे थे। उनके वर्मों और अस्त्रों की झनकार को भ्रम से पागल भानुमित्र करुणा के नूपुर और किंकिणी की झनकार समझ रहा था।

अट्टालिका के द्वार पर बन्धु वर्मा, चक्रपालित और कुमार हर्ष गुप्त घोड़े पर से उतरे। उनके उतरने के समय) लोहे के वर्म में तलवार टकराने के कारण जो शब्द हुआ वह भानुमित्र को करुणा के आभरणों की झनकार जान पड़ा। तब उसने तुरन्त दूसरे खंड की एक कोठरी में घुसते हुये कहा—"बस करुणा! अब तुम नहीं छिप सकतीं। अब की बार मैंने तुम्हें पकड़ लिया। करुणा! करुणा!!"

उस समय अस्ताचलगामी सूर्य की किरणें मागध सैनिकों के वर्मों पर पड़कर चमक रही थीं। यह देखकर भानुमित्र क्षण भर के लिये स्थिर होकर खड़े हो गये। गौड़ीव महाबलाधिकृत की यह दशा देखकर मागध सैनिकों ने सिर झुका लिया। उन लोगों ने (भानुमित्र को बहुत कातर स्वर से) करुणा को पुकारते हुये सुना था। उनमें से बहुत से लोग सम्राट् की पाली हुई कन्या और महावीर गौड़ीय महाबलाधिकृत की भार्या करुणा को जानते थे और पहचानते थे। वे लोग यह भी जानते थे कि करुणा केवल इसी कारण अपनी इच्छा से पाटलिपुत्र छोड़ कर पुरुषपुर आई थी कि उसे अपने स्वामी का विरह न सहना पड़े। पुरुषपुर नगर की दुर्दशा देखकर ही वे लोग भानुमित्र के चित्त की अवस्था समझ

गये थे। जो सैनिक अपने घर पर अपने पुत्र या कन्या को छोड़ आये उन्होंने चुपचाप अपनी आँखों से दो बूँद आँसू बहाये; और जो लोग युवक थे, उन्होंने हुंकार किया। सहसा एक युवक ने तलवार निकाल कर शिरस्त्राण से उसका स्पर्श कराया। उसके साथ ही सैकड़ों तलवारें कोष से बाहर निकल पड़ीं। थके हुए मागध सैनिकों ने आँखों में आँसू भरकर उस वीर-पत्नी की पवित्र स्मृति में शिरस्त्राण से तलवार स्पर्श कराके अभिवादन किया। यह देख बन्धुवर्मा, हर्ष गुप्त और चक्रपालित ने भी सैनिक प्रथा के अनुसार अभिवादन किया।

उसी समय स्कन्दगुप्त भानुमित्र के पीछे जा खड़े हुये। मागध सैनिकों को शोक से विचलित और उत्तेजित देखकर वह भी उत्तेजित हो उठे। स्कन्दगुप्त को कोष से तलवार निकालते देखकर भानुमित्र का मानों ध्यान टूट गया। उन्होंने युवराज का हाथ पकड़ कर रुँधे हुये कंठ से कहा—"नहीं, युवराज! आप किसको अभिवादन करते हैं? करुण—वह तो मरी ही नहीं। मैं झूठ नहीं कहता युवराज! आप मेरे बचपन के मित्र हैं। वह कभी मर ही नहीं सकती। उसने मुझे स्पर्श करके शपथ की थी। वह कभी झूठ नहीं बोलती। नहीं, नहीं, युवराज! आप उसके बड़े भाई हैं। आप करुणा का बुरा न चेतिये! वह मरी नहीं न शोक कीजिये, न दुःख कीजिये। वह फिर आवेगी। वह बिना मुझे देखे नहीं मरेगी। उसने कहा था कि मैं मर ही नहीं सकूँगी नहीं, नहीं, आप नहीं—और चाहे जो कुछ हो—परन्तु करुण, करुण, तुम क्यों छिपी हो?"

युवराज स्कन्दगुप्त ने एक हाथ से कस कर पागल भानुमित्र के दोनों हाथ पकड़े और दूसरे हाथ से तलवार निकाल कर उसे

शिरस्त्राण से स्पर्श कराया। भानुमित्र आँखे फाड़ कर उनकी ओर देखने लगे और चिल्लाकर बोल उठे—"तो क्या युवराज ! आप भी सचमुच यही समझते हैं ? तब तो फिर करुणा ! करुणा !!"

भानुमित्र का अचेत शरीर फिर धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा।

प्रश्न

१—भानुमित्र कौन थे और वे पुरुषपुर के जले हुये दुर्ग में क्या ढूँढ़ रहे थे ?

२—हूण कौन थे और उन्होंने करुणा को क्या किया था ?

—:०:—

११—तरला का 'कार्य साधन'

[श्री राखाल दास बन्द्योपाध्याय]

उस समय पाटलिपुत्र नगर के किनारे किनारे बहुत सी बस्ती हो गई थी। स्थानाभाव के कारण नगर के दरिद्र श्रमजीवी बाहर बसते थे। नगर के उत्तर और पश्चिम भागीरथी और सोन की धारा बहती थी। बहुत से लोग इन नदियों के पार भी बसते थे और नित्य सबेरे काम करने नगर में आते और सन्ध्या को लौट जाते थे। दक्खिन के टोले में एक पुराने बौद्ध मन्दिर के सामने कई बौद्ध भिक्खु घास के ऊपर बैठे बातचीत कर रहे थे। मन्दिर के पीछे कुछ दूर तक ऊँचा टीला सा चला गया था जिस पर नये पुराने पेड़ों का जंगल लगा था, और कहीं कहीं पत्थर के पुराने खंभे दिखाई पड़ते थे। पहले कभी वहाँ पत्थर का बहुत बड़ा बौद्ध मन्दिर था। उसके गिर जाने पर बौद्ध भिक्खुओं ने सामने एक छोटा सा मन्दिर उठाकर उसमें प्रतिमा स्थापित कर दी थी।

घास पर बैठे जो भिक्खु बातचीत कर रहे थे वे सबके सब तरुण अवस्था के थे। उन्हें देखने से जान पड़ता था कि उन्हें गृहस्थाश्रम छोड़े बहुत दिन नहीं हुये हैं। गृहत्यागी भिक्खुओं में जैसी गंभीरता होनी चाहिये वैसी उनमें अभी नहीं आई थी। उनके बीच एक अधेड़ भिक्खु भी बैठा था। अवस्था में उनके जोड़ का न होने पर भी वह उनके साथ मिलकर हँसी ठट्ठा

करता था। इस भिक्खुमंडली से थोड़ी दूर पर एक तरुण भिक्खु बैठा था। वह मन ही मन न जाने क्या सोच रहा था जिससे उसके साथियों का हँसी ठट्ठा उसके कानों तक नहीं पहुँचता था। भिक्खु लोग उसकी ओर दिखा दिखाकर न जाने क्या क्या कहते और ठट्ठा मार मार कर हँसते थे। किन्तु जिस पर यह सब बौछार हो रही थी उसका ध्यान कहीं दूसरी ही ओर था। वह मानों कुछ सुनता ही न था।

इसी बीच एक युवती मन्दिर के सामने आ खड़ी हुई। उसे देखते ही भिक्खुओं की हँसी रुक गई। एक ने उस अधेड़ का हाथ दबा कर कहा "आचार्य जान पड़ता है यह युवती प्रसाद चढ़ाने तुम्हारे ही पास आ रही है।" दूसरा भिक्खु उसकी बात काट कर बोला "तू पागल हुआ है! आचार्य अब स्थविर हो गये हैं। युवती स्त्री भला इनके निकट कैसे आयेगी?" पहले भिक्खु की बात तो बूढ़े को बहुत अच्छी लगी थी पर दूसरे की बात से उसका मुँह लटक गया। वह मन ही मन जल उठा और बोला—"तू मुझे बूढ़ा कहता है और एक स्त्री के सामने? मैं अभी तेरे प्राण लेता हूँ"

पहला भिक्खु—"आचार्य! बात तो इसने बड़ी बुरी कही पर उस दिन संघ स्थविर भी कहते थे कि आचार्य देशानन्द वृद्ध हुये। वे तरुण भिक्खुओं को शिक्षा देने के योग्य हैं। स्थविर!"

वृद्ध भिक्खु—"स्थविर तेरा बाप, तेरा दादा। तुम सब ने क्या मुझे पागल समझ रखा है? अभी उठकर बताता हूँ।"

इतना कहकर दोनों भिक्खुओं की ओर झपटा। सब के सब उसे पकड़ कर बिठाने लगे और वह बड़ी कठिनाई से शान्त

हुआ। युवक भिक्खुओं को यह मानना पड़ा कि उन्हीं का वयस् अधिक है, आचार्य देशानन्द तरुण हैं! उनके बाल जो थोड़े बहुत पक गये हैं वह अधिक अध्ययन से, वय अधिक होने से नहीं।

जिस स्त्री को देखकर भिक्खु मंडली में यह भूचाल आ गया था वह कपड़े लत्ते से किसी धनाढ्य नागरिक की परिचारिका जान पड़ती थी। भिक्खुओं को शान्त हुआ देख वह कुछ पूछा ही चाहती थी कि आचार्य देशानन्द सामने आकर बोले—"क्या तुम कुछ मुझसे तो नहीं कहना चाहती हो?"

रमणी ने कहा—"नहीं। क्या यहाँ कहीं जिनानन्द भिक्खु रहते हैं"? उसका उत्तर सुनकर वृद्ध देशानन्द हताश होकर बैठ गया। तब एक दूसरे भिक्खु ने कहा—हाँ यहाँ जिनानन्द रहते हैं।"

रमणी—महाराज! थोड़ा उन्हें मेरे पास भेज देंगे।

भिक्खु—क्यों? क्या काम है?

रमणी—महाराज! बताने की मुझे आज्ञा नहीं है।

भिक्खु—हमारे संघाराम में कोई तरुण भिक्खु किसी युवती से एकान्त में नहीं मिल सकता।

रमणी—मैं एकान्त में मिलना नहीं चाहती।

भिक्खु—तो फिर गुप्त बात कहोगी कैसे?

रमणी—मैं पत्र लाई हूँ।

भिक्खु—लाओ पत्र मुझे दो।

रमणी—क्षमा कीजियेगा। जिनानन्द को छोड़ मैं पत्र और किसी को दे नहीं सकती।

इतने में पीछे से एक भिक्खु पुकार कर बोला—"अरे, ओ जिनानंद ! कुछ देखते सुनते भी हो या एक बारगी समाधि लगा रखी है ?"

अन्य भिक्खुओं से दूर बैठा जो भिक्खु कुछ सोच रहा था उसने शिर उठाकर देखा। दूसरा भिक्खु फिर बोला—"यह रमणी तुमसे मिलने आई है। तुम क्या सारी बातें नहीं सुनते थे !" जिनानन्द कुछ न बोला। घबराया हुआ रमणी के निकट जाकर बोला—"तरले ! तुम कैसे आई ? क्या समाचार है ?" रमणी बोली "भैया जी ! समाचार बहुत कुछ है, पर ये बाबा लोग भले मानस नहीं जान पड़ते। चलिये उधर ओट में चलें।" दोनों मन्दिर के पीछे पेड़ों के झुरमुट की ओर बढ़े।

वृद्ध भिक्खु अब तक तो चुप चाप बैठा रहा पर जिनानन्द और तरला के पेड़ों के झुरमुट में जाते ही उठा और उनकी ओर बढ़ा। उसकी यह लीला देख कई तरुण भिक्खु हंस पड़े। तब उसने उन्हें घूरते हुए कहा—"तुम सब अभी बच्चे हो। स्त्री चरित्र क्या जानो। मैं इस कुमार्गी जिनानन्द को ठिकाने पर लाने के लिये जा रहा हूँ।" भिक्खु हँसते हँसते लोट पड़े। वृद्ध ने यह देखकर भी न देखा। वह बाघ की तरह दबे पाँव पेड़ों के बीच दबकता हुआ उन दोनों के पीछे चला जाता था।

वृद्ध के अदृश्य हो जाने पर एक भिक्खु बोला—"यह जिनानन्द कौन है, तुम लोग कुछ कह सकते हो ?"

दूसरा भिक्खु—रूपरंग तो राजपूत्रों का सा है। वह किसी धनी का पुत्र है इसमें तो कोई सन्देह नहीं।

पहला भिक्खु—जिनानन्द का कोई गूढ़ रहस्य है, जो किसी प्रकार खुलता नहीं है। जिनानन्द जिस दिन आया उस दिन

संघस्थविर ने सब को बुलाकर कहा कि उस पर बराबर दृष्टि रखना, वह आँख की ओट न होने पाये। रात को भी उसकी कोठरी के बाहर दो भिक्खु सोते हैं।

दूसरा भिक्खु—जान पड़ता है कि कोई भारी शिकार है।

पहला भिक्खु—यह तो मैं भी समझता हूँ पर जिनानन्द का भेद नहीं खुलता।

उधर वन के भीतर एक टूटे खंभे की आड़ में तरला और जिनानन्द खड़े धीरे धीरे बात चीत कर रहे थे।

तरला—भैया जी! अब क्या इसी प्रकार दिन काटोगे?

जिना०—क्या करूँ तरले? इसमें अपना कोई वश नहीं है। ये लोग सदा मेरे पीछे लगे रहते हैं इससे भाग निकलने का भी कोई उपाय नहीं है।

तरला—तब क्या अब घर न लौटोगे?

जिना०—लौटना यदि मेरी इच्छा पर होता तो मैं क्या अब तक यहाँ पड़ा रहता?

तरला—तुम्हें सन्यासी बना कर इन सबों ने क्या पाया है मेरी समझ में नहीं आता। तुम अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। न जाने किस कलेजे से उन्होंने जीवन भर के लिये तुम्हें छोड़ दिया?

जिना०—तरले! इन्होंने क्या लाभ समझ कर मुझे भिक्खु बनाया है यह क्या तुम नहीं जानती? पिता के मरने पर उनकी अतुल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी मैं ही हूँ। यदि मैं घर में रहता तो यूथिका के साथ विवाह करके गृहस्थ होता। पर जिस दिन वसुमित्र ने संघ में प्रवेश किया वह भिक्खु हो गया। उसी दिन से उसका सारा अधिकार जाता रहा। अब पिता के मरने पर

ये सन्यासी ही वह सब सम्पत्ति पायेंगे। इसीलिये ये सब मेरे धर्मभीरु पिता को दबा कर मुझे यहाँ ले आये, और मेरे ऊपर इतनी कड़ी दृष्टि रखते हैं।

तरला—भैयाजी आप हताश न हों। यदि इस दासी के तन में प्राण रहेगा तो वसुमित्र यहाँ से निकलेंगे, फिर गृहस्थी में जायेंगे और हमारी प्यारी सखी यूथिका से विवाह करके सुखी होंगे।

जिना०—कहाँ की बात तरला! यह सब दुराशा मात्र है। अब इस तरह का विचार करना भी मेरे लिये पाप है। तरले! प्रथम तो यहाँ से मेरा निकलना ही असंभव है। फिर निकल भागने पर भी ये सब मुझे ढूँढ़ ही लायेंगे और इनके डर के मारे मुझे कोई कहीं आश्रय नहीं देगा।

कुछ दूर पर सूखे पत्तों पर किसी के पैर की आहट सुनाई पड़ी। जिनानन्द डर कर कहने लगा—"अब चलता हूँ। कोई आ रहा है।"

तरला—कुछ डर नहीं है, मैं जा कर देखती हूँ।

एक पेड़ के पीछे खड़ी होकर तरला ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, फिर आकर बोली—"कोई डर नहीं, वही मुँह जला बुड्ढा है, यहाँ तक पीछे लगा आया है। अब मैं यहाँ और न ठहरूँगी। तुम्हें यहाँ सड़ना नहीं होगा। मैं तुम्हें यहाँ से शीघ्र छुड़ा ले जाऊँगी।" इतना कह कर तरला डग बढ़ाती हुई चली गई। जिनानन्द लम्बी साँस लेकर लौटा।

सन्ध्या का अँधेरा गहरा हो चला था। नगर के बाहरी टोले की एक सँकरी गली से एक युवती जल्दी जल्दी नगर की ओर लपकी चली जा रही थी। मार्ग में बहुत कम लोग आ जा

रहे थे। अँधेरा जब और गहरा हो गया और सामने का मार्ग कम सुझाई पड़ने लगा तो विवश होकर युवती धीरे धीरे चलने लगी। अकस्मात् उसे पीछे किसी के पैर को आहट सुनाई पड़ी। युवती खड़ी हो गई। पैर का शब्द भी थम गया। युवती इधर उधर ताक कर एक अट्टालिका की दीवाल के कोने में छिप गई। वहाँ से उसने देखा कि शिर से पैर तक कपड़े से ढँकी एक मनुष्य-मूर्ति दबे पाँव धीरे धीरे गली में चली जा रही है। जब वह मनुष्य आगे निकल गया तो युवती आगे बढ़ी।

वस्त्र से ढँका हुआ मनुष्य कुछ दूर जाकर फिर धीरे धीरे पीछे की ओर लौटने लगा। युवती फिर एक घर की आड़ में अँधेरे में छिप गई। जब वह दूर निकल गया तो युवती भी निकल कर जल्दी जल्दी बढ़ने लगी। आधा दंड भी न बीता था कि वही पैरों की आहट पीछे फिर सुनाई पड़ने लगी। अब तो युवती कुछ डरी और मार्ग के किनारे के पेड़ों और झाड़ों में जा छिपी। थोड़ी देर में कपड़ों से ढँका हुआ वह मनुष्य फिर दिखाई पड़ा। वह कुछ दूर जा कर फिर लौट पड़ा और ठीक उसी स्थान से होकर चला जहाँ युवती छिपी थी। पास पहुँचते ही उसके मुँह से निकला—"इस बार फिर निकल गई! तरले तूने गहरा झाँसा दिया!" युवती ने यह सुन लिया और वह झाड़ों से निकल बीच रास्ते में आ खड़ी हुई और पुकारने लगी—"ओ बाबाजी, ओ अचारी बाबा! उधर कहाँ जाते हो?" कपड़ों से ढँका हुआ वह मनुष्य चौंक कर खड़ा हो गया। युवती हँस कर बोली—"बाबा जी! कोई डर नहीं। यह मैं हूँ तरला।" तब वह वस्त्र का आवरण हटा कर तरला के पास आया और उसके मुँह को अच्छी तरह देखने लगा। फिर

मुसकुराकरा बोला—"क्या सचमुच तरला ही है? हे लोकनाथ! कृपा करो।"

तरला—बाबा जी! इतनी रात गये किसको ढूँढ़ने निकले थे?

देशा०—बहुत ठंढ है। थोड़ी आग लेने निकला था।

तरला—अरे! इतनी गरमी में तुम्हें जाड़ा लग रहा है! क्या बात ने जोर किया है?

देशानन्द चुप रहा। तब तरला ने कहा—"बाबा जी! चलो उजाले में चलें। कोई मुझे तुम जैसे जवान के साथ यहाँ देखेगा तो चारों ओर निन्दा करेगा!

देशा०—यह तो ठीक है। पर तरला! अभी तुम थोड़ा ठहरो। मैं तुम्हें अच्छी तरह देख तो लूँ। तुम्हारे ही लिये मैं दो कोस दौड़ा आया हूँ।

तरला—अच्छा तो बाबा जी! देखती हूँ कि इस बुढ़ाई में भी तुम्हारे हृदय में रस उमड़ा पड़ता है।

देशा०—छिः तरला! यह क्या कहती हो। मैं तो कभी भी नहीं समझता था कि तुम्हारा हृदय इतना कठोर होगा। अच्छा, अब प्रेम सेम का कुछ काम नहीं मैं लौट जाता हूँ।

तरला—क्या हुआ बाबा जी! ऐसे चिढ़ क्यों गये?

देशा०—तुम्हारी बात ही ऐसी हुई।

तरला—कौन सी बात?

देशा०—अब मैं अपने मुँह से क्या कहूँ!

तरला—क्या यही तो नहीं जो मैंने तुम्हें बूढ़ा कहा? बाबा जी! तुम्हारे ऐसे बहुदर्शी आचार्य के लिये थोड़ी बात पर चिढ़ जाना ठीक नहीं।

देशा०—तरला ! अब तुम्हें सचमुच रस का बोध हुआ। युवावस्था में जो प्रेम होता है वह प्रेम नहीं है; आभास मात्र है। जब तक वयस् कुछ अधिक नहीं होती तब तक मनुष्य प्रेम की मर्यादा नहीं समझ सकता। जैसे......

तरला—जैसे दूध पक कर खोया होता है जो दूध से अधिक मीठा होता है।

देशा०—बहुत ठीक कहा। तुमने मेरे मन की बात खींच निकाली। तुम्हारी इन्हीं सब बातों ने तो मेरा मन जीत लिया है।

तरला—छि छि बाबा जी! आप क्या कह रहे हैं? आपने भगवान् बुद्ध की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग किया है। कहाँ आप ऐसे परम पूज्य आचार्य और कहाँ मैं एक तुच्छ दासी! आपके मुँह से ऐसी बात नहीं सोहती।

देशा०—तरला ! अब मैं अपना जीवन तुम्हारी ही सेवा में उत्सग करना चाहता हूँ। बोलो मुझे अपनी शरण में आश्रय दोगी या नहीं?

तरला मन ही मन हँसी। वह सोच रही थी कि असहाय के सहाय भगवान् होते हैं। वसुमित्र को मैं कैसी आशा बँधा आई हूँ। उससे कह आई हूँ कि जैसे होगा वैसे छुड़ाऊँगी। पर किस उपाय से छुड़ाऊँगी जब यह सोचती हूँ तब वारपार नहीं सूझता। पार लगाने वाले भगवान् ने यह अच्छा अवलम्ब खड़ा कर दिया है। इस बुड्ढे बन्दर की सहायता से मैं वसुमित्र को छुड़ा सकूँगी। इसे यदि मैं नचाती रहूँगी तो मेरा कार्य सिद्ध हो जायगा। इसकी सहायता से मैं सहज में संघाराम के भीतर जा सकती हूँ और वहाँ इसे ललचाकर वसुमित्र को छुड़ाने की

युक्ति रच सकती हूँ। उसे चुप देख देशानन्द ने यह समझा कि उसकी बात तरला के मन में पैठ रही है सो उसने झट उसके दोनों पैर पकड़ लिये।

तरला—अरे बाबा जी! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं! जल्दी पैर छोड़िये, कहीं कोई आ न जाय।

देशानन्द—उदास होकर पाँव छोड़ भूमि पर से उठ खड़े हुये फिर हाथ जोड़ कर बोले—"तब मुझे कब उत्तर मिलेगा?"

तरला—कल।

देशा०—तो चलो तुम्हें घर पहुँचा आऊँ।

वृद्ध भिक्खु देशानन्द आगे आगे चला। तरला उसे युवा पुरुष समझती है वह इसी बात पर इतना लहालोट था कि उसे अपने शरीर तक की सुधि न रही। तरला उसका ध्यान दूसरी ओर देख चलती बनी!

(३)

तरला अपने सेठ के घर से निकल कर राज पथ पर आई और तीन दूकानों पर से उसने पुरुषों के व्यवहार योग्य वस्त्र, उत्तरीय, उष्णीश, और एक जोड़ा जूता मोल लिया। इन सबको अपने वस्त्र के नीचे छिपाकर वह अपने घर की ओर गई। नगर के बाहर तरला की मासी की एक झोपड़ी थी, यही तरला का घर था। वह प्रायः रात में सेठ ही के घर रहती थी। बीच में अपने प्रभु से आज्ञा लेकर दो तीन दिन आकर मासी के घर भी रह जाती थी। तरला की मासी में अनेक गुण थे। वह अन्धी, बहरी और झगड़ालू थी। घर में आकर उसने सब सामान एक कोठरी में छिपाकर रख दिया और खा पीकर सो रही। तीसरे पहर उठ कर वह बड़ी सावधानी से अपने 'कार्य

साधन' के लिये चली। जाते समय वह अपनी मासी से कहती गई—"मैं सेठ से दो दिन की छुट्टी लेकर आई हूँ। बहुत रात बीते घर लौटूँगी। साथ में अपनी एक सखी को भी लाऊँगी।"

घर से निकल कर वह दक्खिन की ओर चली। कुछ दूर जाने पर उसने देखा कि मार्ग से थोड़ा हट कर बावली के किनारे ताड़ के पेड़ों की आड़ में खड़ा कोई मनुष्य चलने वालों की ओर एकटक देख रहा है। उसे देखते ही तरला तालवन में घुसी और दबे पाँव धीरे धीरे उसके पीछे पहुँच कर उसने अपने दोनों हाथों से उसकी आँखें ढाँप लीं। वह व्यक्ति तरला का हाथ टटोल कर हँस पड़ा और बोला—"तरला! मैं पहचान गया। ऐसा कोमल हाथ पाटलिपुत्र में और हो किसका सकता है?" तरला ने हँस कर हाथ हटा लिये और बोली "बाबा जी! बावली के किनारे खड़े खड़े तुम क्या करते थे?

देशानन्द—तुम्हारे ही आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

तरला—अच्छा तो अब यहाँ से चलना चाहिये। कहाँ चलोगे?

देशा०—संघाराम में।

तरला—तुम आगे आगे चलो।

देशानन्द आगे बढ़ा। तरला कुछ दूर पर उसके पीछे पीछे चली। सन्ध्या बीत चुकी थी और अन्धकार छा गया था। देशानन्द नित्य के अभ्यास के कारण अन्धेरे में ही चलते चलते उस पुराने मन्दिर के सामने पहुँच गया। वस्त्र के एक कोने से कुंजी निकाल कर उसने ताला खोला और किवाड़ खोलकर तरला से कहा—"भीतर आ जाओ!" तरला बड़े संकट में पड़ी। वह सोचने लगी कि किस प्रकार अपना कार्य सिद्ध

करूँ। तरला सीढ़ी पर चढ़ी और चौखट पर जाकर बैठ गई। फिर उसने धीरे से कहा—"मुझे डर लगता है, दीया जलाओ।"

देशानन्द अँधेरे में दीया टटोलने लगा। इतने में कुछ दूर पर मनुष्य का कंठ स्वर सुनाई पड़ा। तरला बोली—"बाबा जी, जल्दी आओ। देखो किसी के बोलने का शब्द सुनाई पड़ रहा है।"

देशानन्द झट द्वार पर आया और शिर निकाल कर झाँकने लगा। अँधेरे में दो मनुष्य मन्दिर की ओर दिखाई पड़े। देशानन्द ने और कुछ न कह कर तरला का हाथ पकड़ कर उसे भीतर खींच लिया और दोनों प्रतिमा के पीछे जाकर वहीं छिप रहे।

दोनों मनुष्य मन्दिर के द्वार पर आ पहुँचे। उनमें से एक बोला—"शक्रसेन! मन्दिर का द्वार तो खुला दिखाई पड़ता है।" दूसरे व्यक्ति ने सीढ़ी पर चढ़कर देखा और कहा—"हाँ, द्वार तो सचमुच खुला पड़ा है। बन्धु गुप्त! देशानन्द दिन पर दिन विक्षिप्त होता जाता है। अब तुरन्त किसी दूसरे को मन्दिर की रक्षा पर नियुक्त करो।"

दोनों ने मन्दिर के भीतर घुसकर किवाड़ बन्द कर लिये। बन्धु गुप्त ने दीवट पर से दीया उठाकर जलाया। दोनों आसन लेकर बैठ गये। प्रतिमा के पीछे अन्धकार रहने पर भी देशानन्द बेंत की तरह काँप रहा था। शक्रसेन ने पूछा—' संघ स्थविर! तुम्हारा मुँह इतना सूखा हुआ क्यों है।"

बन्धु गुप्त—केवल यशोधवल के डर से।

शक्रसेन—यशोधवल से तुम इतना डरते क्यों हो?

बन्धु०—क्या तुम सारी बातें भूल गये? यशोधवल मर गया यही समझ कर मैं इतने दिनों निश्चिन्त था।

शक्र०—पहले तो तुम मरने से इतना नहीं डरते थे।

बन्धु०—मरने से तो मैं अब भी नहीं डरता हूँ। पर यशोधवल का नाम सुनते ही मैं थर्रा उठता हूँ। जिस समय उसे सब बातों का ठीक ठीक पता लगेगा वह असह्य यंत्रणा दे देकर मेरी हत्या करेगा। यही सोच सोच कर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

शक्र०—तुमने कीर्तिधवल को किस प्रकार मारा था ?

बन्धु०—यह क्या तुम जानते नहीं जो पूछते हो ?

शक्र०—तुमने तो मुझ से कभी कहा नहीं।

बन्धु०—ठीक है, मैंने किसी से भी नहीं कहा है। अच्छा सुनो कहता हूँ। कीर्तिधवल जिस समय वंगदेश में कर-संग्रह करने गया था उस समय वहाँ के संघ पर बड़ी विपत्ति थी। धवल वंश वाले सब के सब बड़े ही नीति कुशल और युद्ध-विशारद होते आये हैं। बार बार पराजित होकर जब विद्रोही सेना से सन्धि की प्रार्थना की तब उसने बिना किसी प्रकार का दंड दिये उसे छोड़ दिया जिससे सब लोग उसके वश में हो गये। मैं उस समय वंगदेश में ही था। लाख चेष्टा करने पर भी मैं सद्धर्मियों को कीर्तिधवल के विरुद्ध न भड़का सका। उस समय मैंने विचारा कि यशोधवल के पुत्र के बध के अतिरिक्त संघ की कार्य सिद्धि का और कोई उपाय नहीं है। वंगदेश का कोई मनुष्य उस पर हाथ छोड़ने को तयार न हुआ। वह भी सदा रक्षक से घिरा रहता था, इससे मुझे भी दाँव न मिलता था। बहुत दिनों पीछे मुझे पता लगा कि वह नित्य सन्ध्या को तारा मन्दिर में दर्शन करने जाता है। तब से मैं बराबर सन्ध्या को उसके पीछे पीछे जाता, पर उस पर आक्रमण न कर सकता। एक दिन देव यात्रा के समय सद्धर्मियों और ब्राह्मणों

के बीच झगड़ा हुआ । उसी हुल्लड़ में मैंने दूर से छिपकर उस पर बाण चलाया। वह गिर पड़ा। उस भीड़ भाड़ में किसी ने मुझको या उसको न देखा। वह तारा मन्दिर के सामने अचेत पड़ा था। अंधेरे में जब उसके अनुचर उसे चारों ओर ढूँढ़ रहे थे तब मैंने उसके पास जाकर देखा कि वह जीवित है और चोट ऐसी नहीं है कि वह मर जावे। मैंने झट देवी के हाथ का खड्ग लेकर उसके हाथ और पैर की नस काट दी। असह्य पीड़ा से वह छटपटाने लगा और व्याकुल होकर क्षीण कंठ से बार बार जल माँगने लगा पर उसकी बात पर मैंने कुछ भी ध्यान न दिया। उसका रुधिर देख देखकर मैं आनन्द से उन्मत्त हो रहा था। इस प्रकार एक महाशत्रु का मैंने वध किया।"

इस भीषण हत्या की बात सुनकर तरला प्रतिमा के पीछे बैठी बैठी काँप उठी। बहुत देर तक चुप रह कर शक्रसेन ने कहा—"बन्धुगुप्त! तुम मनुष्य नहीं राक्षस हो। किसने बौद्ध संघ में लेकर तुम्हें धर्म की दीक्षा दी?"

बन्धु०—शक्रसेन! अब तुम इस बात को मुँह पर न लाओ। जब से मैंने सुना है कि यशोधवल फिर पाटलिपुत्र में आ गया है तब से नित्य रात को स्वप्न में देखता हूँ कि मैं इसी मन्दिर के द्वार पर पड़ा मृत्यु की घोर यंत्रणा से छटपटा रहा हूँ और रक्त से डूबी हुई तलवार हाथ में लिये यशोधवल आनन्द से नाच रहा है।

आधे दंड तक दोनों चुप चाप रहे। फिर बन्धुगुप्त बोला —"शक्रसेन! चलो संघाराम लौट चलें। मन्दिर का यह सन्नाटा देख मेरा जी दहल रहा है।"

दीया बुझा कर दोनों मन्दिर के बाहर निकले। दोनों ऐसे

विचलित थे कि मन्दिर का किवाड़ वैसे ही खुला छोड़ कर चले गये।

प्रतिमा की ओट में देशानन्द थरथर काँप रहा था।

बन्धु गुप्त और शक्रसेन के चले जाने पर तरला बोली—"बाबा जी! अब बाहर निकलो।" हाथ पर शिर पटक कर देशानन्द बोला—"तरला! अब प्राण बचता नहीं दिखाई देता। तुम्हारे प्रेम में मेरे प्राण गये!"

तरला—तो क्या यहीं बैठे बैठे प्राण दोगे?

देशानन्द हताश होकर बोला—"चलो, चलता हूँ।" दोनों मन्दिर के बाहर आ खड़े हुये। तरला ने देखा कि बुड्ढा बहुत डरा हुआ है। उसे ढारस बँधाने के लिये उसने कहा—"तुम इतना डरते क्यों हो? ये सब तुम्हारा कुछ भी नहीं कर सकते। तुम यहाँ से भाग चलो। तुम्हें मैं ऐसे स्थान में ले जाकर छिपाऊँगी जहाँ ये जन्म भर ढूँढ़ते मर जायँ तो भी तुम्हें न पा सकें।" देशानन्द का जी कुछ ठिकाने आया। वह अधीर होकर कहने लगा—"तब फिर यहाँ ठहरने का अब काम नहीं, चलो भागें।" तरला ने कहा—"घबराओ नहीं, मेरा थोड़ा सा काम है उसे करती चलूँ।"

देशा०—तुम्हारा अब कौन सा काम है?

तरला—जिनानन्द से एक बार मिलकर कुछ कहना है।

देशा०—जिनानन्द तो इस समय संघाराम में बन्द होगा। वहाँ तुम्हारा जाना ठीक न होगा। यहीं रहो, मैं उसे अभी बुलाये लाता हूँ।

देशानन्द गया। तरला ने मन ही मन सोचा, चलो अच्छा

हुआ। वह मन्दिर की ओट में अन्धेरा देख छिप रही। थोड़ी ही देर में जिनानन्द को लिये देशानन्द आ पहुँचा और तरला से बोला—"जो कुछ काम हो जल्दी निबटा लो। जिनानन्द देर तक बाहर रहेगा तो भिक्खुओं को सन्देह होगा।"

तरला—बाबा जी! तुम थोड़ा मन्दिर के भीतर हो रहो। कुछ गुप्त बात है।

देशानन्द मन्दिर के भीतर गया। तरला ने किवाड़ बन्द कर दिये और जिनानन्द से कहा—"भैया जी! मुझे पहचाना? मैं वही तरला हूँ। तुम्हें छुड़ा ले चलने के लिये आई हूँ। अब और कोई बात न पूछो। मैं जो जो कहती हूँ चुप चाप करते चलो।"

जिनानन्द (वसुमित्र) मुँह ताकता रह गया। तरला ने मन्दिर के द्वार पर जाकर धीरे से पुकारा—"बाबा जी! अपने वस्त्र बाहर निकाल दो मैं उन्हें पहनूँगी। यदि तुम भिक्खु के वेश में रात को बाहर निकलोगे तो लोग तुम्हें पहचान जायँगे।"

देशानन्द ने एक एक करके सब वस्त्र मन्दिर के बाहर फेंक दिये। तरला ने वसुमित्र से वेश बदल डालने के लिये कहा। वसुमित्र ने देशानन्द के वस्त्र पहन लिये और अपने वस्त्र उतार कर तरला के हाथ में दे दिये। तरला ने अँधेरे में भिक्खु का वेश धारण किया और अपने वस्त्र मन्दिर के भीतर फेंक दिये और देशानन्द से उन्हें पहनने को कहा। देशानन्द ने मन्दिर के भीतर ही भीतर तरला के सब वस्त्र पहन लिये। मन्दिर के भीतर जाकर तरला ने उसे अपने सब गहने भी पहना दिये और

कहा—"तुम यहीं चुप चाप बैठे रहो, मैं अभी आती हूँ।" देशानन्द अँधेरे में बैठा रहा। तरला ने बाहर निकल कर मन्दिर के किवाड़ बन्द कर दिये और कुंडी भी चढ़ा दी। यह सब कर चुकने पर वह वसुमित्र को लेकर चल खड़ी हुई और देखते देखते अँधेरे में बहुत दूर निकल गई।

प्रश्न

१—देशानन्द कौन था? उसके चरित्र से उस समय के बौद्ध-संघ की क्या अवस्था जान पड़ती है?

२—तरला कौन थी और उसने जिनानन्द को संघाराम से बाहर क्यों निकाला?

३—यशोधवल कौन था? बंधु गुप्त उससे क्यों डरता था और यशोधवल ने बंधुगुप्त के साथ कैसा व्यवहार किया?

———

१२—शिव शंकर

[श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी]

पौष शुक्ला पूर्णिमा और वृहस्पतिवार। छः दिन से चौला का जीवन एक सुमधुर उल्लासपूर्ण नृत्यमय था। पल पल में रुद्रावतार भीमदेव का रटन, उनका चिंतन और उनकी सेवा करना, और उनकी बाट जोहना, यह चौला के श्वास एवं प्राण हो रहे थे। भगवान शंकर रण में चढ़ आये और वह स्वयं उमा उनकी सेवा में सन्नद्ध ! इसी कल्पना में वह डूब गई थी। वह सुखी थी जैसी वह पहले कभी न हुई और जैसी उसे कभी होने की आशा भी न थी।

परकोटे में एक ओसारा था और पहिली मंजिल पर तीन बड़े कमरे थे। उनमें एक में महाराज भीम ठहरे हुये थे। मध्य के कमरे में गुरुदेव विराजते थे और तीसरे में वह स्वयं और दो दूसरी सेविकायें रहती थीं। कमरों के आसपास बड़ी खुली छतें थीं। पुरुष अधिकांश बाहर रहते थे, अतएव वह गुरुदेव की शाला से भीमदेव के आवास में दौड़ जाती थी, गाती और कूदती आती। कभी गंगा के साथ जोर से हँस कर बातें करती और कभी भीमदेव से उसके बाल्यकाल की घटनायें सुनती। सारे दिन भीमदेव क्या क्या करते यह सुन कर वह प्रफुल्लित होती। किसी समय मंदिर के शिखर पर एक ऊँची अटारी पर चढ़कर नवनिर्मित कोट, गंभीर एवं विशाल खाई, प्राकार पर

स्थित सैनिकों की पंक्ति, हथियारबंद घूमते हुये मनुष्यों का झुंड देखा करती और गर्व के साथ नाचती रहती। दो चार बार तो उसने गाँव में अथवा कोट पर सेनापतियों के साथ घूमते हुये महाराज को देखा। ऊँचे कवच पहने हुये, तेजस्वी, आदेश देते हुये, सबका मान और स्नेह आकृष्ट करते हुये, जब वह उन्हें देखती तो उसका हृदय उसके वश में न रहता। दिन में एक बार तो भगवान के सामने वह नृत्य कर आती। अब वहाँ भीड़ जमा न होती थी, क्वचित ही कोई विल्वपत्र चढ़ाने आता था। कई बार वह और उसके भगवान दोनों ही होते थे। अतएव वह निस्संकोच भला-बुरा बोलती और गाती।

इस सुख की राशि में एक ही कील थी। वह जरा बाहर घूमती तो कहीं शिवराशि मिल जाता और कहीं हरदत्त अथवा ऐसा ही कोई साधु जो उसे दूर से ससम्मान नमस्कार करता और वह तुरंत वहाँ से भाग आती थी।

दिन प्रतिदिन भीमदेव महाराज अधिकाधिक संलग्न रहने लगे। कहीं मध्यरात्रि में वे कठिनाई से अपने आवास पर आ पाते, नहाते और भोजन करते। कई बार वह परोसती और कुछ थोड़ी बातें करती। फिर गुरुदेव, राय अथवा परमार या भरूच के चालुक्य आते और पिछली छत पर एकांत में बैठते, घूमते और महत्वपूर्ण चर्चा करते। उस समय कमरे के एक अँधेरे कोने में वह खड़ी खड़ी देखा करती। कुछ समय के लिये महाराज भीमदेव अपने कमरे में जाकर सोते, और वह अपनी माता गंगा के पास जाकर औंधे मुँह पड़ी रहती।

पौष शुक्ला चतुर्दशी बुधवार की रात को महाराज बड़े विलंब से आये, भोजन किया और छत पर चले गये। चौला सदा के समान छत की ओट में दुबक कर खड़ी थी। आज

गुरुदेव अथवा अन्य कोई आने वाला है, ऐसा प्रतीत न होता था। महाराज अकेले ही घूम रहे थे। नीचा सिर कर, लम्बे कदम रखते हुये, किसी गंभीर विचार में लगे हुये थे। चौला की इच्छा उनके साथ वार्तालाप करने की हुई, परंतु उसका साहस न हुआ।

भीमदेव महाराज रुके और उन्होंने अपने आवास की ओर देखा। शीघ्रता के साथ ओट में छिपती हुई चौला से कुछ आवाज हो गई! भीमदेव महाराज ने तुरंत अपनी तलवार पर हाथ रखा।

"कौन है?"

"यह तो मैं हूँ" कह कर चौला बाहर आई।

"चौला! यहाँ इस समय? क्यों?"

महाराज की आँखें चमक रही थीं। चंद्रिका में अद्भुत मादकता प्रतीत होती थी। चौला का हृदय विदीर्ण सा हो रहा था।

"महाराज!" उसका स्वर काँप रहा था, "अब आप सो जाइये। फिर कल सवेरे ही उठना है न!"

"चौला! मेरे लिये सोना और जागना दोनों एक से हैं—" भीमदेव की आवाज में खेद और श्रांति दोनों ही थे।

चौला ने चारों ओर देखा और वह निकट आई, "महाराज! मैं तो एक दासी हूँ—मैं किस प्रकार आपका भार हलका कर सकती हूँ?"

भीमदेव के हृदय में बाढ़ आई। चंद्रिका में उन्होंने अर्धमुद्रित अधर एवं आशापूर्ण नयनों की मोहक छटा पर दृष्टिपात किया। उन्होंने एक बार इसी देवांगना को हाथ में लिया था—

यह सब स्मरण हुआ। उनके सिर का भार दूर हो गया और रगों में एक साथ संगीत की असीम स्वरलहरी गूँज गई।

"चौला!" महाराज के स्वर में प्रचंड ऊर्मियों की ध्वनि थी, "तुझे देखता हूँ और मेरा भार तेरे सान्निध्य में कम हो जाता है। जो तेरे वचन सत्य हों और मैं विजय प्राप्त कर लूँ तो तुझे मेरा सदा का भार हलका करना पड़ेगा।"

शब्दों के अर्थ की अपेक्षा उनकी सूचकता ने चौला को विवश बनाया।

"महाराज! तब तो आप मुझे भूल ही जायेंगे।"

'तुझे भूल जाऊँगा!" कहते हुये भीमदेव ने अपना प्रचंड पंजा चौला के कंधे पर रखा और उसके अंग-अंग से ज्वालायें उठीं।

"नहीं कदापि नहीं" कह कर भीमदेव ने उसे हृदय से लगाया और चुम्बन किया। जब अलग हुये तब सृष्टि ने अनुपम लावण्य धारण किया था। केवल इतना ही उन्हें प्रतीत हुआ कि दोनों ही क्षोभ से व्याकुल थे। अतएव कुछ काल तक कोई भी न बोला। चौला तो उस समय ऐसी अपार्थिव प्रतीत होती थी कि मानो वह चंद्रकिरणों से ही निर्मित आकृति हो।

"महाराज!" अंत में उसने कहा, "कुछ नई विपत्ति आई है? इतने गंभीर क्यों थे?"

"चौला! आज समाचार मिला है कि गजनी का वह अमीर गाँवों को लूटता, घरों को जलाता, स्त्रियों और विप्रों का दमन करता, गायों की हत्या करता चला आ रहा है। मेरा गुजरात श्मशान बनता जा रहा है। और मैं यहाँ बैठा बैठा उसे बचाने का कोई भी प्रयत्न नहीं कर सकता।"

"वह यहाँ कब तक आ जायेगा ?"

"कल या परसों।"

"ठीक है," चौला ने कहा, "तो इस पीड़ा का शीघ्र ही अंत किया जाय।"

"चौला! अपना भोलानाथ बैठा है न?" और भीम का वदन फिर कुछ खिन्न हुआ।

"महाराज! अब आप सो जाइये—बहुत समय बीत गया। यह अवसर आपके लिये अपनी शक्ति-संग्रह करने का है।"

"सच है" कहकर भीमदेव वहाँ से चल पड़े। जाते-जाते उन्होंने फिर चौला की ओर दृष्टिपात किया। फिर लौटने को जी चाहा, परंतु पैर न उठे। और चौला जैसी आई थी वैसी ही किरणमाला के समान अदृश्य हो गई।

उधर भीमदेव महाराज सोने के लिये गये परंतु उन्हें नींद न आई। श्रम के मारे आँखें मींच तो गईं परंतु मस्तिष्क में गढ़ के कोट ऊँचे होने लगे। बड़े बड़े राक्षस गो-ब्राह्मणों की हत्या करते दिखाई दिये और वे स्वयं कहीं बँधे हुये, अकुलाते हुये पड़े नजर आये। सब वातावरण जलता सा प्रतीत होता था। चारों ओर विनाश की सीमा बढ़ती जाती थी और स्वयं वे हाथ या पैर भी न हिला सकते थे। उनकी दृष्टि के सामने किरणों से निर्मित एक बाला तेजस्वी नयनों से उपालभ देती थी; अनंत घोड़ों की पंक्ति दौड़ रही थी, अगणित बाणासनों से विद्युत् के समान तीर छूट रहे थे···परन्तु वे स्वयं वहीं के वहीं खड़े थे···और ज्योत्स्नामयी वह बालिका उलाहने दे रही थी! वे व्याकुल हो चौंक कर उठे—थोड़ी देर तक मस्तिष्क को शांत किया, उस चुंबन का अविस्मृत आस्वाद पुनः अनुभव किया और करवट बदल कर फिर सो गये।

स्वप्न का क्रम फिर भी न टूटा। वह बाला नृत्य कर रही थी—वे स्वयं उसके आसपास दौड़ रहे थे और चारों ओर हाथी ऊँची पूँछ करके दौड़ते थे। गुरुदेव मृदंग बजा रहे थे। नाचते-नाचते बालिका दौड़ गई—वे पीछे दौड़े। सामने एक कलमुँहा मिला। चाँदनी छा गई और कलमुँहा नदी में जा गिरा—और उन्होंने उस बाला को हाथ में उठा लिया—सामने गुरुदेव मृदंग बजा रहे थे और नाचते थे...गिड़-गिड़ धुम... !

उनकी आँखें खुलीं। सेना को जगाने वाले नगाड़े बजने लगे। वे तुरंत उठ बैठे और उन्होंने अपने हाथ बढ़ाये। वे प्रतिदिन जब उठते तब उनके पैरों के पास वीरा उनके वस्त्र एवं कवच लेकर तैयार रहता। आज भी प्रतिदिन की तरह जहाँ वीरा के हाथ हुआ करते वहाँ उन्होंने अपने हाथ फैलाये परंतु उनके हाथ कुछ भी न आया। "वीरा !" उन्होंने पुकारा—किसी बहुत नीचे खड़े हुये प्राणी ने हाथ उठाकर कपड़े ऊँचे किये। भीमदेव की समझ में न आया। उन्होंने हाथ नीचे किये, वीरा कहाँ गया ? अथवा क्या वह स्वप्न तो नहीं ? उन्होंने अंधेरे में हाथ नीचे किये। कपड़े लिये और कपड़े लेकर पास खड़े हुये प्राणी का हाथ पकड़ा...अवश्य ही वह स्वप्न था। हाथ कमल नाल की तरह छोटा और सुहावना था। जैसे रुपहली घंटी का निनाद हो ऐसा सुमधुर हास्य चारों ओर फैला हुआ था। ऊर्मियों का सागर उछला ! महाराज ने दोनों हाथ पकड़ कर खींचे और उनके विशाल वक्ष पर चौला लिपट गई। "मेरे शंभु ! मेरे नाथ !! मेरे शिवशंकर !!!" उसके मुख से मंद मंद स्वर निकल रहा था।

× × ×

डंके बजे और नूतन उत्साह से उछलते हुये महाराज बाहर निकले। उनकी आँखें आज ऐसी चमकती थीं जैसी पहिले कभी न चमकीं, और उनकी भुजाओं में अमित बल उछल रहा था। उन्हें जरा देर हो गई थी। कोट पर गुरुदेव, राय रत्नादित्य, परमार, चालुक्य, कमा लाखाणी, मंत्रिगण और सब सेनापति खड़े थे। एक छलाँग मारकर महाराज भी कोट पर जा पहुँचे। चारों ओर क्षितिज पर लाल-लाल ज्वाला दीख रहा था और सिंदूर के समान सुमेर गगन पर चढ़ा आ रहा था। अमीर के पदचिह्न देख कर महाराज की छाती उछल गई। "आया, आया, आ गया!" महाराज ने हर्ष से कहा। "राय! चलो सैन्य को सुसज्जित कर दो।"

पूर्व आकाश में कुछ हलचल नजर आई। "भीमदेव! यह क्या?" गुरुदेव ने पूछा। जंगलों में से एक-एक दो-दो धब्बे मानों काली चींटियाँ आ रही हो ऐसे दौड़ते हुए प्रकाश की ओर आते दिखाई देते थे।

धब्बों की संख्या बढ़ी। वे अनेक थे। सौ हुये, दो सौ हुये, और वे अधिक, और अधिक होते ही गये। कोई घोड़े पर आते तो कोई गाड़ी में। वे पास आये और उनके आक्रंद को उषःकालीन पवन वहाँ ले आया।

"देलवाड़े के निवासी भाग कर आते हुये मालूम होते हैं"—राय ने कहा। जैसे जल बिंदु टकपते हों उस तरह मनुष्य जंगल से आ रहे थे।

"भोलानाथ! जो तू करे सो सही," गुरुदेव ने अस्पष्ट रूप से कहा।

"स्त्रियाँ तथा बालक भी हैं" विमल मंत्री ने कहा।

"अरे ! वे तो फिसल ही गये" गुरुदेव की आवाज आई, "शिव, शिव, शिव !"

उजाला होता गया और आक्रंदन करते हुये नर-नारियाँ पास आईं ! कितने तो आधे रास्ते में ही गिर गये।

"देलवाड़ा गिर गया" भीमदेव ने होंठ पर होंठ दबा कर कहा। उनकी आवाज गंभीर थी और उनकी आँखें आते हुये मनुष्यों पर और साथ साथ क्षितिज पर घूम रही थीं।

"विमल !" महाराज ने कहा, नदी की ओर से द्वार खुलवा कर जितनी नौकायें हों खाई में ले जाओ और जो जीते जी किनारे आ सकें उन्हें अंदर ले आओ।'

"चालुक्य राज !" वृद्ध कमा लाखाणी ने सुझाया "इन सब को अंदर लेकर क्या करोगे ? हमारे पास दो महीने शांति से कट जायें इतना भी अनाज नहीं है।"

"लाखाणी ! दो महीने महमूद टिका तो मरा ही समझना। विमल ! इस समय कितने वाहन हैं ?"

"तीन हैं महाराज !"

"बालकों और स्त्रियों को तो उनमें बिठाकर बिदा करो।"

"जैसी आज्ञा"—कहकर विमल चला गया।'

राय ने कमर पर बाँधा हुआ शंख लेकर फूँका। चारों ओर शंख और भेरी का नाद होने लगा। डंकों और नगाड़ों ने युद्ध निमंत्रण दिया। सूर्योदय से पूर्व सारा प्रभास गढ़ युद्ध के लिये सुसज्जित हो गया। सूर्य जब निकला तब गढ़ पर सात हजार बाणावलि तीर तान कर तैयार खड़े थे। बिलकुल ऊपर तक ऊँटनियों को भी कोट पर चढ़ाया था जिस पर डंका निशान सुशोभित हो रहे थे। सेनापति सुन्दर घोड़ों पर सवार हो ऊँचे बड़े प्राकार पर खड़े हो क्षितिज की ओर निरीक्षण कर रहे थे।

गंगा और चौला मंदिर के शिखर की अटारियों पर चढ़ गई थीं। चारों ओर सैनिक, शस्त्र एवं पताकाओं से सुशोभित गढ़ देखकर चौला का हृदय गर्व से उछल रहा था। "माँ! माँ! देख, देख, कैसा सुन्दर गढ़—आठ दिन में तो मानों यहाँ जादू कर दिया है!"

ऊँची से ऊँची चोटी पर गुरुदेव राजन्य वर्ग के साथ खड़े थे और वे भी भीमदेव को इसी प्रकार धन्यवाद दे रहे थे। प्रभास गढ़ दुर्भेद्य और सैन्य की शक्ति से सजीव और गौरवशाली हो उदीयमान सविता के प्रकाश में जगमगा रहा था। उसके ऊपर त्रिभुवनपति भगवान् की भगवी ध्वजा जगत के कल्याण की परम भावना के समान फहरा रही थी।

महाराज ने एक गहरी साँस ली, और अपनी शक्ति के विश्वास में मस्त हो उन्होंने अपना खड्ग खींचकर जय घोषणा की, "जय सोमनाथ!" साथ ही साथ तीस सहस्र योद्धाओं ने प्रतिशब्द किया, "जय सोमनाथ!" एक दम महाराज भीमदेव ने आँखें खोलकर कहा, 'राय! देखो, देखो" और राय का हाथ अपनी ओर खींचा। दरिया के किनारे-किनारे घुड़सवारों की एक सेना कोट की ओर आ रही थी।

"परंतु इधर तो देखो,"—परमार ने ध्यान आकर्षित किया। दूसरी ओर भी किनारे-किनारे ऐसी ही दूसरी सेना आ रही थी।

"नदी की ओर का हमारा मार्ग ये लोग बंद कर देना चाहते हैं?"

एक और किनारे की ओर आने वाली सेना, मानों यंत्र हों, इस तरह आगे बढ़ रही थी। प्रभास गढ़ की खाई के उस पार

श्मशान था और वहाँ कालमुखों (कलमुँहों) का आवास था। गुरुदेव ने उन्हें गढ़ में आने के लिये अथवा खंभात चले जाने के लिये बहुत कहा सुना था परंतु अपनी भयानक रहन-सहन में ही मस्त उन कालमुखों ने गुरुदेव की बात हँसी में टाल दी। कभी भी किसी युद्ध में किसी ने उन्हें स्पर्श भी न किया था। किसी का साहस भी न था; परंतु महमूद के भयंकर घुड़सवारों को इहलोक एवं परलोक की परवाह न थी। माली जिस प्रकार घास काटता है उसी तरह उन्होंने कालमुखों को काट डाला। गुरुदेव को उस संप्रदाय के प्रति तनिक भी सहानुभूति न थी। उन्होंने निःश्वास छोड़ते हुये कहा, "भोलानाथ! तू जो करे सो सही।"

इतने ही में महाराज ने देलवाड़ा की ओर नजर डाली और स्तब्ध हो गये। उस रास्ते घुड़सवारों का विशाल सैन्य हाथ में तीर कमान लिये निकल रहा था।

"राय, परमार! आप नदी का रास्ता सँभालो, मैं इस सैन्य को देखता हूँ!"

राय और परमार अपने-अपने स्थान पर चले गये। देलवाड़े के जंगल की राह से मानों एक बड़ी बाढ़ आ रही हो ऐसी महमूद की सेना निकली। घुड़सवार पूरे जोश के साथ चले आ रहे थे, पाँच नहीं, पचास नहीं, हजार नहीं—हजारों। अभेद्य व्यूह में रचे हुये, भयावह परिधान पहने हुये, और चमकीले शिरस्त्राण धारण किये हुये, लंबे लंबे तीरों से निशाना साधते हुये—सुसज्जित। उनके पीछे पीछे सैकड़ों हाथी आये जो ऐसे प्रतीत होते थे कि साथ ही साथ चलते हुये जंगम गढ़ एवं सुरक्षित व्यूह ही हों। फिर बड़े बड़े यंत्र निकले जिन्हें

भीमदेव ने न कभी देखा ही था और न जिनकी उन्होंने कल्पना ही की थी।

"महाराज!" विमल ने धीरे से कहा, "सामंत की बात सच थी, यह सैन्य नहीं—यह तो सारा देश का देश ही उलट पड़ा!"

"परंतु भगवान तो अपने साथ हैं न?"

'भीमदेव बेटा!" गुरुदेव ने महाराज के कंधे पर स्नेह-पूर्वक हाथ रखते हुये कहा, "देवों को भी दुर्लभ युद्ध का प्रसंग भोलानाथ ने तुझे आज दिया है।"

"और गुरुदेव! देवों ने भी कभी न देखा हो ऐसा युद्ध मैं आपको दिखा दूँगा। आप देखा तो करें!" महमूद की सेना जंगल से बाहर निकली। वह प्रभास के आस पास प्रलय के समान लिपट गई और गगन को फाड़ डाले ऐसी प्रचंड गर्जना हुई—"अल्लाहो अकबर!"

"गुरुदेव! आप खड़े रहिये, मैं जाता हूँ—" ऐसा कह कर भीमदेव, लाखाणी और विमल को साथ लेकर शिखर से नीचे उतरे और मुख्य द्वार के कगारे पर दौड़ते हुये गये। खाई की दूसरी ओर घुड़सवारों की सेना थोड़ी दूर पर खड़ी थी। सेना का व्यूह जितना अद्भुत था उतना ही अपूर्ण भी था। तीनों तरफ टुकड़ियाँ पुतले की तरह खड़ी थीं। सबके हाथ में तने हुये तीर थे, परंतु किसी ने छोड़े न थे। नदी के सिवा तीनों तरफ से प्रभास घिर चुका था।

पुनः गर्जना हुई, "अल्लाहो अकबर!" भीमदेव और उसकी सेना ने प्रतिकार किया, "जय सोमनाथ!" महमूद की विशाल सेना के मध्य राजपूत वीरों से सज्जित प्रभास

कालियानाग के मध्य स्थित श्री कृष्ण के समान हँसता खेलता खड़ा था।

भीमदेव महाराज छत्र एवं चामर से सुशोभित मुख्य प्राकार पर खड़े-खड़े इस सारे घटना-चक्र को देख रहे थे। इतने ही में विपक्षी सेना के व्यूह के मध्य में जो छोटा सा मैदान था वहाँ एक बड़ा हरा निशान स्थित होने लगा। हाथियों की पंक्ति के अनंतर हजारों मनुष्य पड़ाव डालकर दौड़ा-दौड़ मचाते नजर आये। हाथियों के बीच में से पाँच सौ घुड़सवारों की टुकड़ी बाहर निकली। उनकी व्यूह-रचना तो निस्संदेह अद्भुत थी। तीनों ओर तीरंदाजों की पंक्ति थी। उसके अंदर नंगी तलवार वाले घुड़सवारों की कतार थी। और इस विविध पंक्तियों से सुरक्षित स्थान पर लगभग पद्रह घुड़सवार आ रहे थे। उन सब में प्रमुख बड़ी हरी पगड़ी पहिने हुये एक प्रचंड घुड़सवार बड़े काले घोड़े पर चढ़कर आ रहा था। सामंत के द्वारा दिया हुआ वर्णन अचूक था—यही गजनी का सुलतान अमीर महमूद था।

महाराज ने दाँत पीसे। महमूद ने अपना धनुष निकाल कर जमीन पर टिकाया और तीर का निशाना जमाया। गुजरात में अप्रतिम गिने जाने वाले धनुर्धारी के हाथ अधीर होने लगे।

गजनवी प्रभास की माप लेते हुये आगे बढ़ा और उसकी सेना ने गर्जना की "अल्लाहो अकबर !" राजपूतों ने प्रत्युत्तर दिया "जय सोमनाथ !" और महाराज ने मूँछ पर ताव चढ़ाया।

महमूद बड़ी देर तक प्रभास की ओर देखता रहा और तदनंतर उसने अपने अचूक तीरंदाजों को तीर छोड़ने का आदेश दिया। एक का तीर खाई में गिरा और दूसरे का वहाँ तक पहुँच सका। राजपूत सेना खिलखिला कर हँस पड़ी। अधीर मसूद

घोड़ा कुदा कर आगे बढ़ा और उसने तीर ताना। महाराज का भी तीर तयार था। पलक भर में ही उन्होंने कसकर तीर छोड़ा। दोनों तीर एक दूसरे को पारकर आगे बढ़े। मसूद का तीर आया और परकोटा से टकरा कर पीछे हटा। महाराज का तीर पवन का वेग धारण कर मसूद के पेट में घुसता हुआ घोड़े के पेट में घुस गया। घोड़ा चक्कर खाकर गिर पड़ा और सवार धूल में लोटने लगा। राजपूत सेना ने भयंकर हर्षनाद किया। "जय सोमनाथ" की घोषणा से गगन गूँज उठा। महाराज को देख कितने ही राजपूतों नें तीर छोड़े परन्तु किसी का भी तीर वहाँ तक पहुँच न पाया।

मसूद ने पट्टी बाँधी और महमूद के साथ हँसता हँसता रिसाले के साथ लश्कर के पीछे चला गया। आज युद्ध करने की महमूद की इच्छा न थी। इसकी सेना पुतली की तरह कुछ देर खड़ी रही, और फिर आदेश प्राप्त होते ही सवार अपने अपने घोड़ों से उतरे और अपनी अपनी टुकड़ियों का पड़ाव डाल, खाने की व्यवस्था करने लगे। प्रभास में तो विजय के डंके बजते ही रहे। पहिला वार राणा ने किया इस शुभ शकुन से सब प्रसन्न हो रहे थे। दोपहर को महमूद की सेना महीनों की तयारी में लगी हो ऐसा मालूम होने लगा। चारों ओर से मिट्टी लाकर पहिली पंक्ति के घुड़सवारों के सामने तीरंदाजों की रक्षा के हेतु टीले बनाये जाने लगे। यह प्रयोग सारा दिन चलता रहा और राजपूत सैनिकों ने कोट पर खड़े खड़े कई एक उपहास किये।

× × ×

भीमदेव महाराज प्रभूत आनन्द में थे। उन्होंने पहिला वार किया था। उनकी तीरंदाजी उनकी महत्ता थी और दुश्मन की

सेना आकुलता में व्यस्त थी। जो महमूद की सेना ठंडे पेट से घेरा डाले तो महीनों तक वे उसे थकायेंगे ऐसी बात थी; जो वह हमला करे तो उसके पास पहुँच कर उसे मार भगाने के पुष्कल साधन उनके पास थे। वे ऐसा सोचते कोट के ऊपर त्वरित दृष्टि चारों ओर डालते हुये इधर-उधर घूम रहे थे। केवल वीरा ही उनके पीछे आ रहा था।

वे नदी की ओर के दरवाजे पर गए, तब राव कमा एक आँख से नदी की ओर ध्यान पूर्वक देख रहा था। उसका मुख बहुत गंभीर था।

"कहो राव! क्या देख रहे हो!" महाराज ने पूछा।

"वह देखा आप ने ?"

"क्या ?" क्षितिज पर दृष्टि स्थिर करते हुये महाराज ने पूछा "वह काले धब्बे के समान कुछ दिखाई दे रहा है, सो ?"

"हाँ !" लाखाणी ने कहा, "जहाज हैं।"

"मुझे तो ऐसा मालूम नहीं होता।"

"मैं तो कच्छी हूँ—बालपन से ही समुद्र में घूमता हूँ। जहाज इस ओर आ रहे हैं" यों कह उसने महाराज को दूर खींचा, "देखिये इस ओर आये तो हम मर गये!"

"क्यों ?"

"महमूद ने किनारे पर दोनों ओर घुड़सवार रखे हैं और यदि हमारा वाहन उधर उनके कब्जे में चला गया तो नदी का रास्ता बंद हो जाने वाला है।" फिर से कमा ने क्षितिज की ओर देखा—"लगभग आठ जहाज होंगे, एक उपाय है।" कमा की एक आँख मिच गई। "वहाँ जाकर जहाज रोकने चाहियें।"

"उससे क्या होगा ?" भीमदेव ने पूछा। "वहाँ हमें कुछ अच्छे योद्धा भेजने चाहियें जो आवश्यकता होने पर नौकाओं में बैठकर लड़ सकें।"

कमा खिलखिलाकर हँस पड़ा। "महाराज, यह तो आधे योजन तक डुबकी मारने वालों का काम है—आपकी समझ में न आयेगा।" अच्छे तैराक के अभिमान से कमा ने कहा।

"कैसे ?"

"मेरी सेना में कुछ ऐसे हैं जो मिश्र से चीन तक यात्रा कर आये हैं। उन्हें मैं तैयार करता हूँ।"

"परंतु वे नदी पर रहकर लड़ सकेंगे ?"

"जहाज पर रह कर युद्ध करना तो हमारे बाप दादा का काम है," कमा ने कहा।

"तो फिर उनका नायक कौन होगा, मेरे पास एक दो खंभाती हैं—परंतु उनमें जान नहीं।"

कमा ने अपनी एक आँख मींच ली। "मेरा लड़का यहाँ होता तो केवल वह ही इस काम को ठीक बनाता। कुछ हर्ज नहीं, मैंने पिछली दीवाली पर ही बहत्तर पूरे किये हैं—मैं कौन बूढ़ा हो गया हूँ," कहकर बत्तीसों दाँत दिखाते हुये वह हँस पड़ा। 'आधा भोजन तो आँख मींचे इतने में ही पार कर जाऊँगा'।

"धन्य है, राव ! धन्य है ?"

'मैं आदमियों को ढूँढ़ निकालता हूँ। अंधेरा होते ही दो हजार तीर कमान यहाँ रखना। महमूद भूमि पर से तीर छोड़े तो वे हमारे पास नहीं पहुँच सकते, परन्तु घोड़ों को पानी में उतार कर वार करें तो हमारे लिये भारी पड़े—उस समय बचाना आपका काम होगा।"

"निर्भय रहो, राव ! मैं अभी तैयारी करवाता हूँ ।"

और विशेष हाहाकार किये बिना भीमदेव महाराज ने दरियाई दरवाजे पर दो हजार चुने हुये धनुर्धारी एकत्र किये। सूर्यास्त हुआ, अंधेरा छाने लगा और अमीर की सेना के पड़ाव में हजारों मशालें जलने लगीं । इधर महाराज की आज्ञा से मशालें देर से जलने वाली थीं । अंधेरा होने पर वीर कमा लाखाणी तीन सौ अडिग तैराकों को लेकर प्रभास के समुद्र की ओर दरवाजे के सामने जा खड़ा हुआ । भीमदेव और विमल मंत्री भी आ पहुँचे । महाराज और राव स्नेह पूर्वक मिले । विमल ने खिड़की कुछ खोली ।

वीर कमा तीर कमान और तूणीर को कंधे पर दुपट्टे से बाँधकर, कमर में कटार खोंसकर, कच्छ बाँध, सोमनाथ का स्मरण कर खिड़की के द्वारा पानी में खिसका । जरा भी आवाज नहीं हुई, ऊपर पानी का बुदबुदा भी न उठा । कुछ देर तक सब कान लगाकर सुनते रहे परंतु तनिक भी आवाज सुनाई न दी । पाव घड़ी के बाद किसी पक्षी के बोलने जैसी आवाज हुई । तुरंत ही दूसरा कच्छी योद्धा उसी तरह पानी में घुसा और अदृश्य हो गया । इस तरह धीरे-धीरे तीन सौ बहादुर वीरों ने डुबकी लगाई और वे अपार सागर में अदृश्य हो गये । काम ऐसी युक्ति के साथ होता था कि खाई के उस पार समीप ही स्थित अमीर के चौकीदारों को संशय भी न हो सका ।

लगभग मध्यरात्रि हो गई जब अंतिम कच्छी वीर ने विदा ली, और महाराज की आज्ञा होते ही कोट पर के सैनिकों ने स्थान स्थान पर मशालें जलाईं । कमा ने भयंकर जोखम सिर पर ले रखा था । अँधेरे में आधे योजन या एक योजन तैर कर

दूरस्थ जहाज पर जा पहुँचना खेल न था, वे जहाज भी खंभात के थे या नहीं और यह भी पता न था कि वे किसी अपरिचित व्यापारी के थे या दुश्मन के थे । बड़ी देर तक महाराज अधीरता के साथ दरिया की ओर देखते रहे । घड़ी पर घड़ी बीतने लगी । कई बार तो उन्होंने आशा भी छोड़ दी। आधीरात बीत गई पर कमा का नाम या निशान भी नहीं मिलता था । अन्त में खिन्न हृदय के साथ उन्होंने अपने आवास पर जाने का निश्चय किया । तभी दूर क्षितिज पर, दरिया के बीच अनेक मशालें ऊँची-नीची हुईं । महाराज हर्ष से उछल पड़े, "शाबाश मेरे कमा, शाबाश !"

जलती हुई मशालों को देखकर नदी की ओर चौकी करते हुये महमूद के सैनिक एक दम तेज हो गये । रणसिंघे बजे, घोड़े हिनहिनाये । कोट पर पट्टनी तीरंदाज कमान खींचे, आज्ञा की राह देख रहे थे । परन्तु मशाल आखिरकार अदृष्ट हो गई । कुछ देर बाद महमूद के सैनिकों की टुकड़ी शांत हो गई, और भीमदेव हर्षित हृदय से अपने आवास की ओर चले गये।

प्रश्न

१—चौला कौन थी और उसके शिवशंकर कौन थे ?

२—चौला का उद्धारक कौन था ? उसने चौला का उद्धार किस प्रकार किया था ?

१३—शील निरूपण और चरित्र-चित्रण

[आचार्य रामचंद्र शुक्ल]

सात्विक, राजस और तामस इन तीन प्रकृतियों के अनुसार चरित्र-विभाग करने से दो प्रकार के चित्रण हम गोस्वामी जी में पाते हैं—आदर्श और सामान्य। आदर्श चित्रण के भीतर सात्त्विक और तामस दोनों आते हैं। राजस को हम सामान्य चित्रण के भीतर ले सकते हैं। इस दृष्टि से सीता, राम, भरत, हनुमान और रावण आदर्श चित्रण के भीतर आवेंगे, तथा दशरथ, लक्ष्मण, विभीषण, सुग्रीव, कैकेयी सामान्य चित्रण के भीतर। आदर्श चित्रण में हम या तो यहाँ से वहाँ तक सात्विक वृत्ति का निर्वाह पावेंगे या तामस का। प्रकृति-भेद-सूचक अनेक-रूपता उसमें न मिलेगी। सीता, राम, भरत, हनुमान, ये सात्विक आदर्श हैं; रावण तामस आदर्श है।

सात्विक आदर्शों का वर्णन हो चुका। हनुमान के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक-भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व परिचय के राम को देखते ही उनके शील, सौंदर्य्य और शक्ति के साक्षात्कार मात्र पर मुग्ध होकर पहले-पहल आत्म-समर्पण करने वाले भक्तिराशि हनुमान ही हैं। उनके मिलते ही मानों भक्ति के आश्रय और आलंबन दोनों पक्ष पूरे हो गये और भक्ति की पूर्ण स्थापना लोक में हो गई।

इसी राम-भक्ति के प्रभाव से हनुमान सब राम-भक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए।

सेवक में जो गुण चाहिये, सब हनुमान में लाकर इकट्ठे कर दिये गये हैं। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि स्वामी के कार्यों के लिये, सब कुछ करने के लिये, उनमें निरलसता और तत्परता हम हर समय पाते हैं। समुद्र के किनारे सब बंदर बैठे समुद्र पार करने की चिंता कर ही रहे थे, अंगद फिरने का संशय करके आगा-पीछा कर ही रहे थे कि वे चट समुद्र लाँघ गये। लक्ष्मण को जब शक्ति लगी तब वैद्य को भी चट हनुमान ही लाए और औषधि के लिये भी पवन वेग से वे ही दौड़े। सेवक को अमानी होना चाहिये। प्रभु के कार्य साधन में उसे अपने मान-अपमान का ध्यान न रखना चाहिये। अशोक वाटिका में से पकड़कर राक्षस उन्हें रावण के सामने ले जाते हैं। रावण उन्हें अनेक दुर्वाद कहकर हँसता है। इस पर उन्हें कुछ भी क्रोध नहीं आता। अंगद की तरह "हैं तव दशन तोरिबे लायक" वे नहीं कहते हैं। ऐसा करने से प्रभु के कार्य में हानि हो सकती थी। अपने मान का ध्यान करके स्वामी का कार्य बिगाड़ना सेवक का कर्त्तव्य नहीं। वे रावण से साफ कहते हैं :—

मोहिं न कछु बाँधे कर लाजा। कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा॥

जिस प्रकार राम, राम थे, उसी प्रकार रावण, रावण था। वह भगवान को उन ललकारने वालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। बालकांड में गोस्वामी जी ने पहले उसके उन अत्याचारों का वर्णन करके, जिनसे पीड़ित होकर दुनिया पनाह माँगती थी, तब तब राम का अवतार होना कहा

है। वह उन राक्षसों का सरदार था जो गाँव जलाते थे, खेती उजाड़ते थे, चौपाए नष्ट करते थे, ऋषियों को यज्ञ आदि नहीं करने देते थे, किसी की कोई अच्छी चीज देखते थे तो छीन ले जाते थे और जिनके खाए हुए लोगों की हड्डियों से दक्खिन का जंगल भरा पड़ा था। चंगेज खाँ और नादिरशाह तो मानों लोगों को उसका कुछ अनुमान कराने के लिये आए थे। राम और रावण को चाहे अहुरमज्द और अह्रमान समझिये, चाहे खुदा और शैतान। फर्क इतना ही समझिये कि शैतान और खुदा की लड़ाई का मैदान इस दुनिया से जरा दूर पड़ता था और राम-रावण की लड़ाई का मैदान यह दुनिया ही थी।

ऐसे तामस आदर्श में धर्म के लेश का अनुसंधान निष्फल ही समझ पड़ेगा। पर हमारे यहाँ की पुरानी अक्ल के अनुसार धर्म के कुछ आधार बिना कोई प्रताप और ऐश्वर्य्य के साथ एक क्षण नहीं टिक सकता, रावण तो इतने दिनों तक पृथ्वी पर रहा। अतः उसमें धर्म का कोई न कोई अंग अवश्य था। वह अंग अवश्य था जिससे शक्ति और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है। उसमें कष्ट-सहिष्णुता थी। वह बड़ा भारी तपस्वी था। उसकी धीरता में भी कोई संदेह नहीं है। भाई पुत्र जितने कुटुम्बी थे, सबके मारे जाने पर भी वह उसी उत्साह के साथ लड़ता रहा। अब रहे धर्म के सत्य आदि और अंग जो किसी वर्ग की रक्षा के लिये आवश्यक होते हैं। उनका पालन राक्षसों के बीच वह अवश्य करता रहा होगा। उसके बिना राक्षस-कुल रह कैसे सकता था? पर धर्म का पूर्ण भाव लोक-व्यापकत्व में है। यों तो चोर और डाकू भी अपने दल के भीतर परस्पर के व्यवहार में धर्म बनाये रखते हैं। लोक धर्म वह है जिसके आचरण से पहले तो किसी को दुख न पहुँचे; यदि पहुँचे भी तो

विरुद्ध आचरण करने से जितने लोगों को पहुँचता है, उससे कम लोगों को। सारांश यह कि रावण में केवल अपने लिये और अपने दल के लिये शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज में उस शक्ति का सदुपयोग करने वाला धर्म नहीं था। रावण पंडित था, तपस्वी था, राजनीति कुशल था, धीर था, वीर था; पर सब गुणों का उसने दुरुपयोग किया। उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया। सत से निकलकर जो शक्ति असत रूप हो गई थी, वह फिर सत में विलीन हो गई।

अब सामान्य चित्रण लीजिये। राम के साथ लक्ष्मण का शील निरूपण कुछ हो चुका है। यहाँ केवल यही कहना है कि उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आर्द्रता न आने दे। सीता को जब वे वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ने गये थे, तब वे करुण भाव में मग्न थे। उनके मुँह से कोई बात न निकलती थी। वे राम के बड़े भारी आज्ञाकारी थे। वे अपने हृदय के वेग को सहकर भी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। क्रोध उन्हें कटु-वचन के लिये उभारता था, पर राम का रुख देखते ही वे चुप हो जाते थे। सीता के वनवास की कठोर आज्ञा राम के मुख से सुनते ही वे सूख गये, करुणा से विह्वल हो गये। पर जी कड़ा करके वे सीता को पहुँचा आये। आज्ञाकारिता के लिये वे आदर्श हुए पर यह नियम भी ऐसे अवसरों पर उन्होंने शिथिल कर दिया जब आज्ञा के पालन में उन्होंने अधिक हानि देखी और उल्लंघन का परिणाम केवल अपने ही ऊपर देखा। इन सब बातों के विचार से उनका चरित्र सामान्य के भीतर हो रखा है।

गृह-नीति की दृष्टि से विभीषण शत्रु से मिलकर अपने भाई और कुल का नाश कराने वाले दिखाई पड़ते हैं; पर और विस्तीर्ण क्षेत्र के भीतर लेकर देखने से उनके इस स्वरूप की कलुषता प्रायः नहीं के बराबर हो जाती है। गोस्वामी जी ने इसी विस्तृत दृष्टि से उनके चरित्र का चित्रण किया है। विभीषण राम भक्त थे, अर्थात् सात्विक गुणों पर श्रद्धा रखने वाले थे। वे राम के लोक-विश्रुत शील, शक्ति और सौंदर्य पर मुग्ध थे। भाई के राज्य के लोभ के कारण वे राम से नहीं मिले थे। इस बात का निश्चय उनके बार बार तिरस्कृत होने पर भी रावण को समझाते जाने से हो जाता है। यदि उन्हें राज्य का लोभ होता तो वे एक ओर तो रावण को युद्ध के लिये उत्तेजित करते, दूसरी ओर भीतर से शत्रु की सहायता करते। पर वे रावण की लात खाकर खुल्लमखुल्ला राम की शरण में यह कहते हुए गये—

राम सत्य संकल्प प्रभु सभा काल-बस तोरि।
मैं रघुबीर-सरन अब, जाऊँ देहु जनि खोरि॥

लोभ-वश न सही, शायद विभीषण भाई के व्यवहार से रूठकर क्रोध वश राम से जा मिले हों। इस संदेह का निवारण रावण के लात मारने पर विभीषण का कुछ भी क्रोध न करना दिखाकर गोस्वामी जी ने किया है। लात मारने पर विभीषण इतना ही कहते हैं—

तुम पितु-सरिस भलेहिं मोहिं मारा।
राम भजे हित, नाथ तुम्हारा॥

इस स्थल पर गोस्वामी जी का चरित्र-निर्वाह-कौशल झलकता है। यदि यहाँ थोड़ी सी भी असावधानी हो जाती

विभीषण क्रोध करते हुए दिखा दिये जाते, तो जिस रूप में विभीषण का चरित्र वे दिखलाया चाहते थे, वह बाधित हो जाता। अधिकतर यही समझा जाता कि क्रोध के आवेश में विभीषण ने रावण का साथ छोड़ा। कवि ने विभीषण को साधु प्रकृति का बनाया है। हरी हुई सीता को लौटाने के बदले रावण का राम से लड़ने के लिये तैयार होना असाधुता की चरम सीमा थी जिसे विभीषण की साधुता न सह सकी, गोस्वामी जी का पक्ष यह है। विभीषण की साधुता औसत दर्जे की थी। वह इतनी बढ़ी नहीं थी कि राम द्वारा दिये हुए भाई के राज्य की ओर से वे उदासीनता प्रकट करते।

सुग्रीव का चरित्र तो और भी औसत दर्जे का है। न उनकी भलाई ही किसी भारी हद तक पहुँची हुई दिखाई देती है, न बुराई ही।

राम के साथ उन्होंने मैत्री की और राम का कुछ कार्य-साधन करने के पहले ही बड़े भाई का राज्य पाया। पर जैसा कि साधारणतः मनुष्य का स्वभाव (बंदर का स्वभाव कहने से और कुछ कहते ही नहीं बनेगा) होता है, वे सुख विलास में फँसकर राम का कार्य भूल गये। जब हनुमान ने चेताया, तब वे घबराये और अपने कर्त्तव्य में दत्तचित्त हुए।

अब तक जिस चित्रण का वर्णन हुआ है वह एक व्यक्ति का चित्रण है। इसी प्रकार किसी समुदाय विशेष की प्रकृति का भी चित्रण होता है; जैसे स्त्रियों की प्रकृति का, बालकों की प्रकृति का। स्त्रियों की प्रकृति की जैसी तद्रूप छाया हम 'मानस' के अयोध्या कांड में देखते हैं, वैसी छाया के प्रदर्शन का प्रयत्न तो हम और किसी हिन्दी कवि में नहीं पाते। नीची श्रेणी की

स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी वस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिये उसे कुछ न कुछ चाहिये। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग द्वेष के अनेक आधार यों ही बिना कारण, ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं। यदि वे चार आदमियों के बीच रख दी जाँय तो हम बहुत थोड़े दिनों में देखेंगे, कि कुछ तो उनके अनुराग के पात्र हो गये हैं और कुछ द्वेष के। मूर्ख स्त्रियों की, यह विशेषता ध्यान देने योग्य है। अपने लिये राग और द्वेष का पात्र चुन लेने पर वे अपने वाग्विलास और भाव परिपाक के लिये सहयोगी ढूँढ़ती हैं। मंथरा का इसी अवस्था में हम पहले-पहल दर्शन पाते हैं। न जाने उसे कौशिल्या क्यों अच्छी नहीं लगतीं, कैकेई अच्छी लगती हैं। राम के अभिषेक की तैयारी देखकर वह कुढ़ जाती है और मुँह लटकाये कैकेयी के पास आ खड़ी होती है। कैकेयी को उसके अनुराग का पता चाहे रहा हो, पर अभी तक द्वेष का पता बिल्कुल नहीं है। वह मुँह लटकाने का कारण पूछती हैं तब—

उतरु देइ नहिं, लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाँड़इ स्वास कारि जनु साँपिनि॥

उसकी इस मुद्रा से प्रकट होता है कि उसने अपने द्वेष का आभास इसके पहले कैकेयी को नहीं दिया था; यदि दिया भी रहा होगा, तो बहुत कम। जल्दी उत्तर न देने से यह सूचित होता है कि जो बात वह कहना चाहती है वह कैकेयी के लिये बिल्कुल नई है, अतः उसे सहसा नहीं कह सकती। किस ढंग

से कहे, यह सोचने में उसे कुछ काल लग जाता है। इसके अतिरिक्त किसी के सामने अब तक न प्रकट किये गये दुख के वेग का भार भी दबाये हुये है। इतने में 'गाल बड़ तोरे' इस वाक्य से जी की बात धीरे धीरे बाहर करने का एक रास्ता निकलता है। वह अपनी वही मुद्रा कायम रखती हुई कहती है—

कत सिख देइ हमहि कोउ माई । गाल करब केहि कर बलु पाई ?

"किसका बल पाकर गाल करूँगी ?" इसका मतलब यही है कि मुझे एक तुम्हारा ही बल ठहरा—मैं तुम्हें चाहती हूँ और तुम मुझे चाहती हो—सो मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यहाँ कोई गिनती ही नहीं है, क्रोध, द्वेष आदि के उद्गार के इस प्रकार क्रम क्रम से निकालने की पटुता, स्त्रियों में स्वाभाविक होती है, क्योंकि पुरुषों के दबाव में रहने के कारण तथा अधिक लज्जा, संकोच के कारण ऐसे भावों के वेग को एक बारगी निकालने का अवसर उन्हें कम मिलता है।

रानी पूछती है कि "सब लोग कुशल से तो हैं ?" इसका उत्तर फिर उसी प्रणाली का अनुसरण करती हुई वह देती है—

रामहिं छाँड़ि कुसल केहि आजू ? जिनहि जनेसु देइ जुबराजू ॥
भएउ कौसिलहि बिधि अति दाहिन । देखत गरब रहत उर नाहिन ॥

किसी को क्रमशः अपनी भाव पद्धति पर लाना, थोड़ा बहुत जिसे कुछ भी बात करना आता है, उसे भी आता है। जिस प्रकार अपनी विचार पद्धति पर लाने के लिये क्रमशः प्रमाण पर प्रमाण देते जाने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार क्रमशः किसी के हृदय को किसी भाव-पद्धति पर लाने के लिये उसके अनुकूल मनोविकार उत्पन्न करते चलने की आवश्यकता होती है। राम के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करने के लिये मंथरा सपत्नी

को सामने रखती है जिसके गर्व और अभिमान को न सह सकना स्त्रियों में स्वाभाविक होता है। सपत्नी के घमंड की बात जी में आने पर कहाँ तक ईर्ष्या न उत्पन्न होगी? इस ईर्ष्या के साथ भरत के प्रति वात्सल्य भाव भी तो कुछ जगाना चाहिये इस विचार से मंथरा कहती है—

पूत बिदेसु न साच तुम्हारे। जानति हहु बस नाहु हमारे॥

इतना होने पर भी राजा की कुटिलता के निश्चय द्वारा जब तक राजा के प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न न होगा, तब तक कैकेयी में आवश्यक कठोरता और दृढ़ता कहाँ से आवेगी? कैकेयी के मन में यह बात जम जानी चाहिये कि भरत जान बूझकर हटा दिये गये हैं। इसके लिये ये वचन हैं—

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई। लखहु न भूप-कपट-चतुराई॥

इस पर कैकेयी जब कुछ फटकारती है और बार बार उसके खेद का कारण पूछती है, तब वह ऐसा खेद प्रकट करती है जैसा उसको होता है जो किसी से उसके परम हित की बात कहना चाहता है, पर वह उसे केवल तुच्छ या छोटा समझ कर ध्यान ही नहीं देता। उसके वचन ठीक वे ही हैं जो ऐसे अवसर पर स्त्रियों के मुख से निकलते हैं—

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ कर दूजी?
फोरइ जोगु कपार अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा॥
कहहिं झूँठ फुर बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं, करुइ मैं माई॥
हमहुँ कहब अब ठकुर सुहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिय, लहिय जो दीन्हा॥

मंथरा अब अपने उस भाग्य को दोष दे रही है जिसके कारण वह ऐसी कुरूप हुई, दासी के घर उसका जन्म हुआ,

उसकी बात की कोई कुछ कद्र ही नहीं करता, वह अच्छी भी कहती है तो लोगों को बुरा लगता है। विश्वास न करनें वाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य को दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न कराने का एक ऐसा ढंग है जिसे कुछ लोग विशेषतः स्त्रियाँ स्वभावतः काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सचाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्रायः 'उदासीनता' के द्वारा की जाती है जैसे "हमें क्या करना है? हमने आपके भले के लिये कहा था। कुछ स्वभाव ही ऐसा पड़ गया है कि किसी का अहित देखा नहीं जाता।" मंथरा के कहे हुये खेद व्यंजक उदासीनता के ये शब्द सुनते ही झगड़ा लगाने वाली स्त्री का रूप सामने खड़ा हो जाता है।

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥
जारइ जोग सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥

अब तो कैकेयी को विश्वास हो रहा है, यह देखते ही वह राम के अभिषेक से होने वाली कैकेयी की दुर्दशा का चित्र खींचती है और यह भी कहती जाती है कि राम का तिलक होना मुझे अच्छा लगता है, राम से मुझे कोई द्वेष नहीं है; पर आगे तुम्हारी क्या दशा होगी, यही सोचकर मुझे व्याकुलता होती है—

रामहिं तिलक कालि जो भयऊ। तुम कहँ विपति-बीज विधि बयऊ॥
रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कै माखी॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

इस भावी दृश्य को कल्पना से भला कौन स्त्री क्षुब्ध न

होगी ? किसी बात पर विश्वास करने या न करने की भी मनुष्य की रुचि नहीं होती है। जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य को रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण आदि वह सुनता ही नहीं। सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता। मंथरा ने पहले अपनी बात पर विश्वास करने की रुचि भिन्न भिन्न मनोविकारों के उद्दीपन द्वारा कैकेयी में उत्पन्न की। जब यह रुचि उत्पन्न हो गई, तब स्वभावतः कैकेयी का अंतःकरण भी उसके समर्थन में तत्पर हुआ—

सुनु मंथरा बात फुर तोरी। दहिनि आँख नित फरकइ मोरी॥
दिन प्रति देखेउँ राति कुसपने। कहौं न तोहि मोह-बस अपने॥
काह करौं सखि ! सूध सुभाऊ। दाहिन-बाम न जानौं काऊ॥

इस प्रकार जो भावी दृश्य मन में जम जाता है, उससे कैकेयी के हृदय में घोर नैराश्य उत्पन्न होता है। वह कहती है—

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करब सवति-सेवकाई॥
अरि-बस दैव जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीव न चाही॥

इस दशा में मंथरा उसे सम्हालती है और कार्य में तत्पर करने के लिये आशा बँधाती हुई उत्साह उत्पन्न करती है—

जे राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यह फलु परिपाका॥
पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥

इस प्रसंग के चित्रण को देख यह समझा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने मानव-अंतःकरण के कैसे कैसे रहस्यों का उद्घाटन किया है। ऐसी गूढ़ उद्भावना बिना सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के नहीं हो सकती।

बालकों की प्रवृत्ति का चित्रण हम परशुराम और लक्ष्मण के संवाद में पाते हैं।

अकारण चिढ़ने वालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानो समाज ने बालकों ही को दे रखा है। राम के विनय करने पर भी परशुराम को ज्यों ही लक्ष्मण चिढ़ते देखते हैं, त्योंही उनकी बाल प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। लक्ष्मण का स्वभाव उग्र था, इससे इस कौतुक के बीच बीच में क्रोध का भी आभास मिलता है। परशुराम की आकृति अब अत्यंत भीषण और वचन अत्यंत कटु हो जाते हैं, तब लक्ष्मण के मुँह से व्यंग्य वचन न निकल कर अमर्ष के उग्र शब्द निकलने लगते हैं। परशुराम जब कुठार दिखाने लगे, तब लक्ष्मण को भी क्रोध आ गया और वे बोले—

भृगुवर ! परसु देखावहु मोही । विप्र विचारि बचेउ नृप द्रोही ॥
मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े । द्विज देवता घरहि के बाढ़े ॥

गोस्वामी जी ने लक्ष्मण की इस बाल वृत्ति को लोक व्यवहार से बिलकुल अलग नहीं रखा है, इसे परशुराम की क्रोध शीलता की प्रतियोगिता में रखा है। यह भी अपना लोकोपयोगी स्वरूप दिखा रही है। यदि परशुराम मुनियों की तरह आते, जो शांत और क्षमाशील होते हैं तो लक्ष्मण को अवसर न मिलता। रामचंद्र जी कहते हैं—

जौ तुम अवतेहु मुनि की नाईं । पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं ॥
छमहु चूक अनजानत केरी । चहिय विप्र उर कृपा घनेरी ।

प्रश्न

१—तुलसीदास के चरित्रों के किन प्रकारों के चित्रण हुये हैं ?

२—सामान्य चरित्रों में सबसे अधिक विशद चित्रण किस व्यक्ति का हुआ है और किस प्रकार ?

१४—शतरंज के खिलाड़ी

(१)

वाजिद अली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े अमीर, गरीब, सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन विभाग में, साहित्य क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राज-कर्मचारी विषय वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे इत्र मिस्सी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिये बाजी बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है, पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है, राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की

आदत पड़ती है, ये दलीलें जोर के साथ पेश की जाती थीं (इस संप्रदाय के लोगों से दुनियाँ अब भी खाली नहीं है।) इसलिये अगर मिर्जा सज्जाद अली और मीर रौशन अली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीर थी; जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौमियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके, बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते और लड़ाई के दाँव पेंच होने लगते। फिर खबर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम। घर के भीतर से बार बार बुलावा आता—खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो आते हैं; दस्तरख्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था और दोनों मित्र दोनों काम साथ साथ करते थे। मिर्जा सज्जाद-अली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिये उन्हीं के दीवानखाने में बाजियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिर्जा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से खुश हों। घर वालों का तो कहना ही क्या, महल्ले वाले, घर के नौकर चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। खुदा न करे किसी को इसकी चाट पड़े। आदमी दीन दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिर्जा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज खोज कर पति को लथाड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाजी बिछ जाती थी, और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिर्जा जी

भीतर आते थे। हाँ नौकरों पर अपना गुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं कह दो, आकर ले जायँ। खाने की भी फुर्सत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खाँय चाहे कुत्ते को खिलावें पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उन्हें अपने पति से उतना मलाल न था जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिर्जा जी अपनी सफाई देने के लिये सारा इल्जाम मीर साहब ही के सिर पर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—"जाकर मिर्जा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर।" लौंडी गई, तो मिर्जा जी ने कहा—"चल, अभी आते हैं।" बेगम साहबा का मिजाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—"जाकर कह, अभी चलिये, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी!" मिर्जा जी बड़ी दिलचस्प बाजी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीर साहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—"क्या ऐसा दम लबों पर है? जरा सब्र नहीं होता?"

मीर—"अरे तो जाकर सुन ही आइये न। औरतें नाजुक मिजाज होती ही हैं!"

मिर्जा—"जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।"

मीर—"जनाब, इस भरोसे न रहियेगा। वह चाल सोची

है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइये, सुन आइये। क्यों ख्वाहमख्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?"

मिर्जा—"इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।"

मीर—"मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइये।"

मिर्जा—"अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर दर्द खाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।"

मीर—"कुछ भी हो, उनकी खातिर तो करनी ही पड़ेगी।"

मिर्जा—"अच्छा एक चाल और चल लूँ।"

मीर—"हर्गिज नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।"

मिर्जा साहब मजबूर होकर अंदर गये, तो बेगम साहबा ने त्यौरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए कहा—"तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो।"

मिर्जा—"क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।"

बेगम—"क्या जैसे वह खुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल बच्चे हैं; या सबका सफाया कर डाला?"

मिर्जा—"बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।"

बेगम—"दुतकार क्यों नहीं देते?"

मिर्जा—"बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में, मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिजा करना ही पड़ता है।"

बेगम—"तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी अपना

सुहाग लेंगी। हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ ले जाइये।"

मिर्जा—"हाँ-हाँ, कहीं ऐसा गजब भी न करना! जलील कराना चाहती हो क्या! ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।"

बेगम—"जाने क्यों नहीं देते। मेरा ही खून पिए, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ।"

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवान खाने की तरफ चलीं, मिर्जा बेचारे का रंग उड़ गया। बीबी की मिन्नतें करने लगे—"खुदा के लिये, तुम्हें हजरत हुसेन की कसम। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय।" लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवान खाने के द्वार तक गईं, पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका। संयोग से कमरा खाली था। मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे, और अपनी सफाई जताने के लिये बाहर टहल रहे थे, फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँच कर बाजी उलट दी; मुहरे कुछ तख्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर; और किवाड़ें अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीर साहब दरवाजे पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाजा बंद हुआ, तो समझ गये, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिर्जा ने कहा—"तुमने गजब किया!"

बेगम—"अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ खुदा से लगाते तो क्या गरीब हो जाते! आप तो शतरंज खेलें और मैं यहाँ चूल्हे चक्की की फिक्र में सिर

खपाऊँ! ले जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है?"

मिर्जा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तांत कहा। मीर साहब बोले—"मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फौरन भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर पर चढ़ा रक्खा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इंतजाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार?"

मिर्जा—"खैर, यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा?"

मीर—"इसका क्या गम। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस, यहीं जमे।"

मिर्जा—'लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं, यहाँ बैठक होगी, तो शायद जिंदा न छोड़ेंगी।"

मीर—"अजी बकने भी दीजिये; दो चार रोज में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिये कि आज से जरा तन जाइये।"

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से उनके घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिये वह उन्हें शतरंज प्रेम की कभी आलोचना न करतीं; बल्कि कभी कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गंभीर है; लेकिन जब दीवान खाने में बिसात बिछने लगी, और मीर

साहब दिन भर घर में रहने लगे, तो उन्हें बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाजे पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी काना फूसी होने लगी। अब तक दिन भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में चाहे कोई आवे, चाहे कोई जाय, उनसे कुछ मतलब न था। आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा जाकर कहते—"हुजूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई। दिन भर दौड़ते दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे, तो शाम ही कर दी! घड़ी आध घड़ी दिल बहलाव के लिये खेल लेना बहुत है। खैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुजूर के गुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलने वाला कभी पनपता नहीं। घर पर कोई न कोई आफत जरूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले के महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चर्चा होती रहती है। हुजूर का नमक खाते हैं। अपने आका की बुराई सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें।' इस पर बेगम साहब कहतीं—"मैं तो खुद इसे पसंद नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, तो क्या किया जाय।"

महल्ले में भी जो दो चार पुराने जमाने के लोग थे, वे आपस में भाँति भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—"अब खैरियत नहीं है। जब हमारे रहीसों का यह हाल है,

तो मुल्क का खुदा ही हाफिज। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फरियाद सुनने वाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंचो चली आती थी, और वह वेश्याओं में भाँड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अंगरेज कंपनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेजीडेंट बार बार चेतावनी देता था ; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे ; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

खैर मीर साहब के दीवान खाने में शतरंज होते कई महीने गुजर गये। नए-नए नक्शे हल किये जाते ; नित नई व्यूह रचना होती ; कभी-कभी खेलते-खेलते झोंड़ हो जाती ; तू-तू, मैं-मैं तक की नौबत आ जाती। पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाजी उठा दी जाती। मिर्जा जी रूठकर अपने घर चले जाते ; मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शांत हो जाता था। प्रातः काल दोनों मित्र दीवान खाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे शतरंज के दलदल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फौज का अफसर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गये ! यह क्या बला सिर पर आई ! यह तलबी किस लिये हुई। अब खैरियत नहीं नजर आती। घर के दरवाजे बन्द कर लिये। नोकरों से बोले—

"कह दो घर में नहीं हैं।"

सवार—"घर में नहीं तो कहाँ हैं?"

नौकर—"यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?"

सवार—"काम तुझे क्या बतलाऊँ? हुजूर में तलबी है शायद फौज के लिये कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी? मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे दाल का भाव मालूम हो जायगा!"

नौकर—"अच्छा तो जाइये कह दिया जायगा।"

सवार—"कहने की बात नहीं है। मैं कल खुद आऊँगा। साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।"

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिर्जा जी से बोले "कहिये जनाब अब क्या होगा?"

मिर्जा—"बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी भी तलबी न हो।"

मीर—"कमबख्त कल फिर आने को कह गया!"

मिर्जा—"आफत है और क्या! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा तो बेमौत मरे।"

मीर—"बस यही एक तदबीर है कि घर पर मिलते ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नकशा जमे। वहाँ किसे खबर होगी? हजरत आकर आप लौट जायँगे।'

मिर्जा—"वल्लाह, आपको खूब सूझी। इसके सिवा और कोई तदबीर ही नहीं।"

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं "तुमने खूब धता बताई।" उसने जवाब दिया "ऐसे गावदियों

को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे

(२)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बगल में एक छोटी सी दरी दबाए डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसिफ उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच दरी बिछा, हुक्का भर कर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन दुनियाँ की फिक्र न रहती थी। 'किश्त' 'शह' आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दुकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी कभी तो उन्हें भोजन का भी ख्याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को ले-लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी जरा भी फिक्र न थी। वे घर से आते, तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाजिम की निगाह न पड़ जाय। जो बेगार में पकड़ जायँ। हजारों रुपया सालाना की जागीर मुफ्त ही में हजम करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मिर्जा की बाजी कुछ कमजोर थी। मीर साहब उन्हें

किश्त पर किश्त दे रहे थे। इतने में कंपनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिये आ रही थी। मीर साहब बोले—"अंगरेजी फौज आ रही है; खुदा खैर करे।"

मिर्जा—"आने दीजिये, किश्त बचाइये। लो यह किश्त"।

मीर—"जरा देखना चाहिये—यहीं आड़ में खड़े हो जाँय।"

मिर्जा—"देख लीजियेगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त।"

मीर—"तोप खाना भी है। कोई पाँच हजार आदमी होंगे कैसे जवान हैं। लाल बंदरों के से मुँह हैं। सूरत देख कर खौफ मालूम होता है।"

मिर्जा—"जनाब हीले न कीजिये। ये चकमें किसी और को दिखाइएगा—यह किश्त।"

मीर—"आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफत आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी खबर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?"

मिर्जा—"जब घर चलने का वक्त आयेगा, तो देखा जायगी—यह किश्त। बस, अब की शह में मात है।"

फौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाजी बिछ गई।

मिर्जा बोले—"आज खाने की कैसी ठहरेगा?"

मीर—"अजी, आज तो रोजा है। क्या आपको ज्यादा भूख मालूम होती है?"

मिर्जा—"जी नहीं। शहर में न जाने क्या हो रहा है।"

मीर—"शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुजूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।"

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अबकी मिर्जा जी की बाजी कमजोर थी। चार की गजर बज ही रहा था कि फौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिद अली शाह पकड़ लिये गये थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी न मार काट। एक बूँद भी खून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शांति से, इस तरह खून बहे बिना न हुई होगी। यह अहिंसा न थी, जिस पर देव गण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिसपर बड़े से बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं! अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिर्जा ने कहा—"हुजूर नवाब साहब को जालिमों ने कैद कर लिया है।"

मीर —"होगा, यह लीजिये शह।"

मिर्जा—"जनाब जरा ठहरिये। इस वक्त इधर तबियत नहीं लगता। बेचारे नवाब साहब इस वक्त खून के आँसू रो रहे होंगे।"

मीर—"रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगी यह किश्त।"

मिर्जा—"किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।'

मीर—"हाँ सो तो है ही—यह लो फिर किश्त। बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।"

मिर्जा—"खुदा की कसम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आप को दुख नहीं होगा। हाय, गरीब वाजिदअली शाह!"

मीर—"पहले अपने बादशाह को बचाइये, फिर नवाब साहब का मातम कीजियेगा। यह किश्त और मात। लाना हाथ।"

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल आई। उनके जाते ही मिर्जा ने फिर बाजी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—" आइये नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिर्जा जी की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी, वह हार का बदला चुकाने के लिये अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खंडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबील आ आकर अपने-अपने घोंसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे मानों दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिर्जा जी तीन बाजियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाजी का रंग भी अच्छा न था। वह बार बार जीतने का दृढ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे, लेकिन एक न एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाजी खराब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के गजलें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानों कोई गुप्त धन पा गये हों। मिर्जा जी सुन सुनकर झुंझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिये उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाजी कमजोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात बात पर झुंझलाने लगे—"जनाब आप

चाल न बदला कीजिये। यह क्या कि एक चाल चले और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिये। यह आप मुहरे पर ही हाथ क्यों रक्खे रहते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिये। जब तक आप को चाल न सूझे मुहरा छुइये ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इस की सनद नहीं, जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनिट से ज्यादा लगे, उसे मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली। चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिये।

मीर साहब का फरजी पिटता था। बोले—"मैंने चाल चली ही कब थी?"

मिर्जा—"आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिये उसी घर में।"

मीर—"उस घर में क्यों रक्खूँ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था।"

मिर्जा—"मुहरा आप कयामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फरजी पिटते देखा तो धाँधली करने लगे।"

मीर—"धाँधली आप करते हैं। हार जीत तकदीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।"

मिर्जा—" तो इस बाजी में आप को मात हो गई?"

मीर—"मुझे क्यों मात होने लगी।"

मिर्जा—"तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिये, जहाँ पहले रक्खा था।"

मीर—"वहाँ क्यों रक्खूँ? नहीं रखता।"

मिर्जा—"क्यों न रखिएगा? आप को रखना ही होगा।"

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिर्जा बोले—"किसी ने खानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके कायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरंज क्या खेलियेगा। रियासत और ही चीज है। जागीर मिल जाने ही से कोई रईस नहीं हो जाता।"

मीर—"क्या! घास आप के अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं।"

मिर्जा—"अजी, जाइये जी, गाजिउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते करते उम्र गुजर गई आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं।"

मीर—"क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावर्ची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आये हैं।"

मिर्जा—"अरे चल चरकटे, बहुत बढ़ बढ़कर बातें न कर।"

मीर—"जबान सम्हालिये वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाई कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला?"

मिर्जा—"आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं तो फिर आइये; आज दो दो हाथ हो जाय—इधर या उधर।"

मीर—"तो यहाँ तुमसे दबने वाला कौन है?"

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी जमाना था; सभी तलवार, पेश कब्ज कटार वगैरा बाँधते थे। दोनों विलासी थे पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधः-पतन हो गया था—बादशाह के लिये बादशाहत के लिये क्यों

मरें। पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं छपाछप की आवाजें आईं। दोनों जख्म खाकर गिरे और दोनों ने वहीं तड़प तड़प कर जाने दे दीं। अपने बादशाह के लिये जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला उन्होंने शतरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाजी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे मानों इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। खंडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरीं हुई दीवारें और धूल धूसरित मीनारें इन लाशों को देखतीं और सिर धुनती थीं।

प्रश्न

१—शतरंज के खिलाड़ी कहानी में किस युग के किस समाज का चित्रण हुआ है ?

२—इस कहानी की रचना में कहानी-लेखक का क्या उद्देश्य है ?

—:०:—

१५—अनंत आकाश और हमारा जगत

[श्री रामदास गौड़]

संसार भर में सब से सुन्दर, सब से अद्भुत और सबसे बड़ा कौतुक हमारी आँखों के सामने होता रहता है, पर नित्य की बात होने से हम उस पर ध्यान कम देते हैं। ऊषा काल की अपूर्व शोभा, सूर्य का तड़के उदय होना, उसकी मनोमोहक किरणों का दशों दिशाओं में छिटकना, उसका तेजोमय रूप, तरणि की तरुणाई, फिर दिन का ढलना, सूर्य का अस्त होना, सायंकाल की विचित्र छबि, फिर चाँद और तारों से सजी सजाई रात का आना और अपनी छटा दिखाना यह सब नित्य का तमाशा है जो प्रकृति में हमारे सामने होता रहता है। तारों से जड़े हुये आकाश का परदा तो बराबर बदलता रहता है। घटाओं का छाना, बिजली का कौंधना, बादल की गरज, इन्द्र धनुष की छबि, उत्तरी दक्षिणी विद्युन्माला की आभाएँ, वर्षा, कुहरा आदि नये नये दृश्य बदलते रहते हैं। यह सब तमाशा नित्य नये ढंग पर किन्तु बड़े नियम और नापतौल से होता रहता है।

मनुष्य यह खेल अनादि काल से देखता आया है। उसने काल का अनुमान और हिसाब इन्हीं परदों में होने वाले फेर-फार से किया है। इसीलिये यह कोई अचरज की बात नहीं है कि उसने इन तारों और चन्द्रमा तथा सूर्य के बारे में भाँति-भाँति

की कल्पनायें की हैं और तरह-तरह के विचार पक्के किये हैं। अधिक विचार और विवेक वालों ने इनको समझने के लिये बारीक से बारीक हिसाब लगाये हैं। इनकी जाँच के लिये विविध यंत्र बनाये हैं। भारत में तो अत्यंत प्राचीन काल से और भारत के बाहर के देशों में भी बहुत काल से इस विषय की खोज होती आई है।

संसार के सभी देशों के विद्वानों ने आकाश-मंडल को नित्य देखते हुये खगोल को नापने के उपाय किये। सारे खगोल को सत्ताईस नक्षत्रों में बाँटा जिसमें महीने भर में चंद्रमा घूमता है, और बारह राशियों में बाँटा जिसमें साल भर में सूरज चक्कर लगाता है। इन्हीं राशियों और नक्षत्रों में ग्रहों और उपग्रहों के प्रवेश और यात्रा से भारतीय पंचांग में दिन, तिथि, नक्षत्र, योग और करण की गणना हुई। अनादि काल से इस प्रकार की गणना चली आ रही है। संसार के सब से प्राचीन ग्रंथ वेदों में इनकी चर्चा है और ज्योतिष विद्या वेद के छः अंगों में से एक प्रधान अंग समझी जाती है।

संसार के सभी पुराणों ने इसी विज्ञान के आधार पर सृष्टि और लय की भाँति-भाँति की कल्पनायें की हैं। वह आज हमें चाहे कैसी ही लगें परंतु ये नित्य नियम वाले दृश्य हमारे लिये उतने ही अद्भुत हैं जितने करोड़ों बरस पहिले हमारे पूर्वजों के लिये थे। आज पाश्चात्य ज्योतिष विज्ञान ने बहुत सी उलझनें सुलझा दी हैं परंतु अनेक समस्यायें हैं जिनका हल अभी होना है और उनसे भी अधिक उलझनें आज ऐसी हैं जो अछूती पड़ी हैं। सबसे अधिक महत्व का प्रश्न यह है कि इस विश्व की रचना कब और कैसे हुई और यह कब तक बना रहेगा? जिस रूप में विश्व आज है क्या वही बराबर बना रहेगा या कभी

नष्ट भी हो जायगा ? अथवा वह आज जिस रूप में है उससे धीरे धीरे या भयानक वेग से बदल कर बिलकुल भिन्न आकार-प्रकार का हो जायगा ? यह प्रश्न बड़े पुराने हैं और इनके उत्तर के लिये कल्पनाओं से आरंभ करके आजकल के बारीक प्रयोगों से काम लिया गया है। परंतु अब तक इन प्रश्नों का निर्णयात्मक उत्तर नहीं मिल सका है।

हम जिन वस्तुओं को जानते और समझते हैं उनका संबंध अपनी दुनिया से लगाते हैं। आकाश में हम दो तरह के पिंड मानते हैं। एक तो ग्रह हैं और दूसरे तारे। हम ग्रह उन पिंडों को कहते हैं जो बराबर सूरज के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। हमारी धरती भी ऐसा ही एक ग्रह है। सूरज की परिक्रमा करने वाले इस पृथ्वी को छोड़कर आठ और पिंड हैं जो अब तक जाने गये हैं। इनके नाम हैं बुध (Mercury), शुक्र (Venus), मंगल (Mars), वृहस्पति (Jupiter), शनि (Saturn) वरुण (Neptune), "उरण"—इन्द्र—(Uranus) और कुबेर (Pluto)। इनमें से बुध सूर्य से सब से अधिक निकट और कुबेर सबसे अधिक दूर है। बुध का दिखाई पड़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि यह सूर्य-मंडल के बहुत पास है। इसी तरह वरुण और कुबेर का पिंड भी आँखों से नहीं दीखता क्योंकि ये सूर्य से सबसे अधिक दूर हैं। "उरण" (इन्द्र) भी अदृश्य सा ही है। पृथ्वी ग्रह शुक्र की अपेक्षा सूर्य से अधिक दूर है और मंगल की अपेक्षा सूर्य के पास है। पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा परिक्रमा करता रहता है। पृथ्वी के एक ही चंद्रमा है परंतु और ग्रहों के कई कई हैं। वृहस्पति के चार चंद्रमा हैं, शनि के दस हैं और मंगल के दो। सभी ग्रहों के चन्द्रमा उन ग्रहों की परिक्रमा करते रहते हैं। सूर्य, ये नवग्रह और इन ग्रहों

के चंद्रमा यह सब पिंड एक ही कुटुंब के से हैं जिसका स्वामी सूर्य है। हमारी पृथ्वी का इन सबसे आपस का घना संबंध है।

ऐसा घना संबंध होने पर भी इनकी आपसी दूरी अनंत है। सूर्य पृथ्वी से ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है और कुबेर सूर्य से इसकी ४० गुनी दूरी पर है। इनके अतिरिक्त हमारी आँखों के सामने आकाश में जो अनगिनत छोटे छोटे तारे दीखते हैं यह कितनी दूरी पर हैं इसकी कल्पना भी कठिन है। सूर्य-मंडल से सबसे समीप जो तारा है उसकी दूरी ढाई नील मील है। श्रवण नक्षत्र का प्रधान तारा ८ नील १० खरब मील है। स्वाती लगभग साढ़े चौदह नील मील है और अभिजित सवा तेईस नील मील है। यह हम से निकट से निकट वाले तारे हैं। सूर्य मंडल से इन्हीं की दूरी अनंत सी लगती है। अन्य तारों की दूरी की तो क्या कथा है? उनकी दूरी अंकगणित की बड़ी से बड़ी संख्या के बाहर है।

और यह छोटे छोटे तारे जो नित्य टिमटिमाया करते हैं क्या हैं? यह वह बड़े बड़े पिंड हैं जो सूर्य से कहीं अधिक ज्योति और ताप रखते हैं और कई तो इतने बड़े हैं कि उनके सामने हमारा सूर्य जो हमारी पृथ्वी से लगभग साढ़े ३ लाख गुना बड़ा है केवल एक कण के समान होगा। इनकी दूरी का तो हिसाब ही नहीं लग सकता। प्रकाश एक सेकेंड में एक लाख छियासी हजार मील चलता है और सूर्य की किरण को ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पारकर हमारी पृथ्वी तक पहुँचने में केवल ८ मिनट लगते हैं। परंतु दूर दूर वाले इन तारों की किरण को हमारी धरती पर पहुँचने में लाखों करोड़ों बरस लगते हैं। ऐसे विशाल आकाश देश में दूरी कल्पना के बाहर हो जाती है। इस दूरी के सामने काल भी कल्पना के

बाहर चला जाता है। देखने में जो ये तारे एक दूसरे से सटे से जान पड़ते हैं उनकी दूरी अनंत है। यदि हम कहीं उन तारों में से किसी एक पर जा सकें तो हमारा सूर्य भी हमें आकाश गंगा में एक नन्हासा टिमटिमाता तारा ही दीखेगा ?

इस तरह हम तारों भरे जिस आकाश को स्वच्छ रात्रि में देखते हैं वह वस्तुतः अनंत देश है। इस अनंत देश में अनंत विश्व हैं। इन्हीं विश्वों में से एक विश्व आकाश-गंगा नाम का नीहारिका से घिरा हुआ है। इस आकाश-गंगा वाले विश्व में भी अनंत ब्रह्मांड हैं। हर एक ब्रह्मांड का नायक कोई सूर्य है। हमारा ब्रह्मांड उन सब में से एक है जिसका नायक विवस्वन् है। इसी ब्रह्मांड में हमारी यह धरती है जिसपर खड़े खड़े अनंत विश्वों और अनंत ब्रह्मांडों का हम तमाशा देख रहे हैं। इस अनंत देश में, इन विश्वों के अनत समूह में, इन अनंत ब्रह्मांडों के बीच में हमारा ब्रह्मांड है जिसमें नौ पिंड सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं, जिनमें से बुध से गिनते हुए हमारी धरती तीसरा पिंड है जिसे हम अपनी दुनिया या जगत या संसार कहते हैं।

साधारणतया जब आँधी नहीं चलती होती तब यह भूमंडल हमारे लिये अत्यन्त शांत जगत जान पड़ता है। रात को जब बादल नहीं होते और शुद्ध स्वच्छ आकाश दिखाई देता है उस समय रात-रात आकाश का तमाशा देखने वाले के लिये एक अद्भुत बात सामने आती है। उस समय धीरे धीरे बड़ी निश्चित गति से यह अनंत विश्वाकाश पश्चिम की ओर बढ़ता जाता है और पूरब की ओर से परदे का नया नया भाग आँखों के सामने आता जाता है। आकाश की इस गति को मनुष्य अनादि

काल से देखता आया है। यह गति ऐसी नियमित है कि इसी के आधार पर मनुष्य ने काल का हिसाब लगाया और इसी निरीक्षण के बल पर ज्योतिष शास्त्र का आरम्भ हुआ। पश्चिम के पुराने लोगों ने भी समझा था कि आकाश घूमता है परन्तु भारत के प्राचीन और योरप के पीछे के ज्योतिर्विदों ने इस सम्बन्ध में जो अनुमान किया वह यह कि सारा विश्व-मंडल जो पूरब से पश्चिम की ओर निरन्तर घूमता हुआ दिखाई पड़ता है उसका कारण यह है कि हमारी धरती अपने धुरे पर बराबर पश्चिम से पूरब की ओर घूमा करती है। सूर्य और दूसरे तारे पृथ्वी की परिक्रमा नहीं कर रहे हैं। पृथ्वी ही चौबीस घंटों में बड़े वेग से अपने धुरे पर एक बार घूम जाती है। धरती की सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाली एक दूसरी चाल भी है। पृथ्वी एक मिनट में एक हजार मील से ऊपर के वेग से सूर्य के चारों ओर घूमती है। साल भर में यह चक्कर अट्ठावन करोड़ मील के लगभग होता है। पृथ्वी से सूर्य का पिंड तीन लाख तैंतीस हजार गुना अधिक भारी है। इसलिए पृथ्वी के पिंड पर सूर्य के पिंड का बहुत भारी खिंचाव पड़ता है। पृथ्वी की गति में बाहर फेंकी जाने की बड़ी भारी प्रवृत्ति है। यदि एक क्षण के लिए भी सूर्य का खिंचाव बंद हो जा सके तो पृथ्वी सीधी रेखा में आकाश के अनन्त देश में सीधी उड़ती चली जाय! सूर्य के खिंचाव और पृथ्वी की भागने की प्रवृत्ति दोनों के बीच ऐसी समान गति स्थापित है कि पृथ्वी को एक विशेष वृत्त में ही निरंतर घूमना पड़ता है। इसी प्रकार शेष आठों ग्रह भी घूमते रहते हैं।

जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, वैसे ही चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है। कभी कभी इसी परिक्रमा में सूर्य और पृथ्वी के बीच में चंद्रमा आ पड़ता है।

इससे सूर्य की किरणें रुक जाती हैं और सूर्य-ग्रहण लग जाता है। जैसे सूर्य की धूप धरती पर पड़ती है वैसे ही चंद्रमा पर भी पड़ती है। इसी धूप को हम चंद्रमा की चाँदनी समझते हैं। जब कभी चंद्रमा और सूर्य के बीच में पृथ्वी पड़ जाती है अर्थात् चंद्रमा पृथ्वी की छाया के भीतर आ जाती है तभी चन्द्र-ग्रहण लग जाता है। चंद्रमा पृथ्वी से २ लाख ४० हजार मील दूर है।

सूर्य एक विशाल गोला है। इसके ऊपरी तल का क्षेत्रफल चौबीस शंख घन मील के लगभग है। यदि कोई प्राणी किसी विधि से सूर्य मंडल की ओर जा सके तो सूर्य जब दो लाख मील रह जायगा तभी उसका शरीर जलकर और पिघलकर सारा का सारा परमाणु-परमाणु अलग हो चुकेगा। धरती पर कुछ वायव्यों और सोना आदि धातुओं को छोड़ सभी पदार्थ संयुक्त दशा में हैं। परन्तु सूर्य पर इतनी प्रचंड आँच है कि संयुक्त दशा में कोई पदार्थ रह नहीं सकता। उसकी आँच का यह हाल है कि सर्व ग्रहण के समय पाँच लाख मील की ऊँचाई तक प्रज्ज्वलित उज्जन वायु की लाल शिखाएँ उसके किनारों पर लहराती रहती हैं। साधारण समय में यह दिव्य दर्शन नहीं हो पाता क्योंकि उसकी सफेद चमक इतनी तेज होती है कि इन लाल शिखाओं को छिपाये रहती है।

यही सूर्य अपने प्रचंड ताप को लगातार अपने ब्रह्मांड भर में बिखेरता रहता है। यह करोड़ों नहीं अरबों बरसों से बिखे-रता आ रहा है फिर भी इसके ताप में कोई कमी नहीं दीखती। कुछ विद्वानों का कहना है कि सूर्य का बोझ ४५ लाख टन प्रति सेकेंड के हिसाब से घटता जा रहा है और उसकी गर्मी भी

क्रम क्रम से कम होती जा रही है। अतः अरब-खरबों साल में ही क्यों न हो, एक न एक दिन उसका ताप चला जायगा और सृष्टि का अन्त हो जायगा। दूसरे तरह के विद्वानों का कहना है कि सूर्य के ताप का निर्माण ही जिस प्रक्रिया से होता रहता है वह ऐसी अद्भुत है कि प्रचंड ताप देती हुई भी सूर्य की ज्वाला कभी शांत न होगी।

सूर्य से सबसे निकट बुध है। इसका एकही भाग सदा सूर्य के सामने बना रहता है। बुध के पिंड पर जिधर धूप बनी होगी उधर निरन्तर धूप रहती होगी। वहाँ न कभी सूर्योदय होता होगा न सूर्यास्त। और दूसरी ओर सदैव रात्रि ही रहता होगी। कभी दिन हुआ ही न होगा। जिस भाग में सदा धूप रहती होगी वह ऐसा तपता होगा कि वहाँ हमारी धरती जैसे प्राणी रह नहीं सकते होंगे। और जिधर लगातार रात बनी रहती होगी उधर इतना ठंढा होगा कि वहाँ भी प्राणी का अस्तित्व असम्भव होगा। अतः जिस थोड़े से भूमि भाग में दिन और रात्रि की सन्धि होगी वहीं शायद कोई प्राणी रह सकते होंगे ! बुध के कोई चन्द्रमा नहीं है इस लिए वहाँ चाँदनी रात भी नहीं हो सकती। बुध पृथ्वी के आधे के बराबर है।

बुध के बाद सूर्य से सबसे अधिक पास शुक्र है। हम लोग बुध को तो कठिनाई से कभी देख सकते हैं पर शुक्र सवेरे तड़के या शाम को बहुत चमकीला दिखाई पड़ता है। इसका पिंड लगभग पृथ्वी के ही बराबर है। इसके ऊपर निरन्तर बादल घिरे रहते हैं इसलिये इसका ऊपरी तल कभी दिखाई नहीं देता। वरुण और कुबेर इतना तप रहे हैं कि उनके बारे में विचार करना व्यर्थ है।

मंगल ग्रह पृथ्वी का दशमांश ही है इसीलिए यह माना जाता कि इसका पिंड पृथ्वी की अपेक्षा जल्दी ठंढा हुआ होगा। ज्योतिषियों का अनुमान है कि मंगल पर प्राणियों का निवास और विकाश पृथ्वी से लाखों बरस पहिले हो चुका होगा और वहाँ इस समय जो प्राणी होंगे उन्हें अपने विकास में लाखों बरस बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। मंगल पर का जीवन पृथ्वी पर के जीवन से अवश्य भिन्न होगा। यदि मंगल ग्रह में प्राणियों का निवास है तो उनकी रातें बड़ी मजेदार होती होंगी क्योंकि मंगल के दो चन्द्रमा हैं जिससे वहाँ कभी साथ ही साथ और कभी एक के बाद दूसरे चन्द्रमा का उदय होता होगा जिससे रात्रि की रमणीयता बढ़ जाती होगी।

सौर-परिवार में वृहस्पति सबसे बड़ा ग्रह है। मंगल और वृहस्पति के बीच लगभग ३० करोड़ मील का आकाश-मण्डल सूना है। कोई बड़ा ग्रह इस बीच में नहीं है। इस विशाल काय पिंड के भार का खिंचाव चारों ओर आकाश में बहुत बड़ा प्रभाव डालता होगा; क्योंकि यह पृथ्वी से तेरह सौ गुना बड़ा है। इसके नौ चन्द्रमा हैं। अनुमान होता है कि वृहस्पति के पिंड पर अभी तक प्राणियों का निवास नहीं हुआ होगा। इसका पिंड आँख से लाल दिखाई देता है। आकाश में वृहस्पति और शुक्र बड़े चमकीले हैं पर यह तेज सूर्य का है। शनि की भी वैसी ही दशा है। उसके ऊपर वाले हिस्से में भाफ के बादल हैं और भीतर के पिंड में प्रचण्ड ज्वाला है। इसके दस चन्द्रमा हैं। दूरबीन में शनि बड़ा ही सुन्दर दिखाई देता है सूर्य से अत्यन्त दूर होने के कारण उस पर सूर्य की आँच का कम प्रभाव पड़ता है। इस ग्रह की भी दशा ऐसी है कि इस पर हमारी धरती के प्राणियों का होना सम्भव नहीं है।

प्रश्न

१—विज्ञान की दृष्टि में पृथ्वी की रचना की क्या कथा है ?

२—आकाश की अनंतता की कुछ मुख्य बातें क्या हैं ?

३—चन्द्र-लोक की यात्रा के सम्बन्ध में आधुनिक जगत की क्या योजनायें हैं ?

१६—तर्क और श्रद्धा

[महात्मा तिलक]

गीता और कठोपनिषद् में कहा है कि आश्चर्य-चकित होकर ब्रह्म का वर्णन करने वाले तथा सुनने वाले बहुत हैं तो भी वह किसी की समझ में नहीं आता। श्रुति ग्रन्थों में इस विषय पर एक बोधदायक कथा भी है। उसमें यह वर्णन है कि जब बाष्कलि ने बाह्व से कहा कि, "हे महाराज! मुझे कृपा कर बतलाइये कि ब्रह्म किसे कहते हैं?" तब बाह्व कुछ भी न बोले। बाष्कलि ने फिर प्रश्न किया, पर बाह्व फिर भी चुप रहे। जब ऐसा ही चार बार हुआ तब बाह्व ने बाष्कल से कहा, "अरे! मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर तभी से दे रहा हूँ परन्तु तेरी समझ में नहीं आया। मैं क्या करूँ? ब्रह्म-स्वरूप किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता, इसलिये चुप रहना ही सच्चा ब्रह्म-लक्षण है।" सारांश यह है कि जिस दृश्य-सृष्टि-विलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिन्त्य परब्रह्म का वर्णन यह है कि वह मुँह बन्द रखकर बतलाया जा सकता है, आँखों से न देख सकने पर भी उसे देख सकते हैं और समझ में न आने पर भी वह ज्ञात होने लगता है उसको साधारण बुद्धि के लोग कैसे पहिचान सकेंगे?

जब परमेश्वर-स्वरूप का अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा हो कि सब चराचर सृष्टि में एक ही आत्मा प्रतीत होने लगे तभी मनुष्य की पूरी उन्नति होगी, और यदि ऐसी उन्नति

कर लेने के लिये तीव्र बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न हो तो संसार के लाखों करोड़ों मनुष्यों को ब्रह्म-प्राप्ति की आशा छोड़ चुपचाप बैठे रहना होगा; क्योंकि बुद्धिमान लोगों की संख्या सर्वदा कम रहती है। यदि यह कहें कि बुद्धिमान लोगों के कथन पर विश्वास रखने से हमारा काम चल निकलेगा तो उनमें भी कई मतभेद दिखाई देते हैं, और यदि यह कहें कि विश्वास रखने से काम चल जाता है तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि इस गहन ज्ञान को प्राप्त करने के लिये विश्वास या श्रद्धा रखना बुद्धि के अतिरिक्त कोई और मार्ग है। सच तो यही देख पड़ता है कि ज्ञान की पूर्णता श्रद्धा के बिना नहीं होती। अतः यह कहना कि सब ज्ञान केवल बुद्धि ही से प्राप्त होता है और उसके लिये किसी अन्य मनोवृत्ति की आवश्यकता नहीं है उन पंडितों का मिथ्याभिमान है जिनकी बुद्धि केवल तर्क प्रधान शास्त्रों का जन्म भर अध्ययन करने से कर्कश हो गई है।

उदाहरण के लिये यह सिद्धान्त लीजिये कि कल सबेरे फिर सूर्योदय होगा। हम लोग इस सिद्धान्त के ज्ञान को अत्यन्त निश्चित मानते हैं क्योंकि हमने और हमारे पूर्वजों ने इस क्रम को सदा अखंडित पाया है। परन्तु कुछ अधिक विचार करने पर प्रगट होगा कि हमने अथवा हमारे पूर्वजों ने जो अब तक प्रति दिन सबेरे सूर्य को निकलते देखा है वह बात कल सबेरे सूर्योदय होने का कारण नहीं हो सकती। अथवा प्रतिदिन हमारे देखने के लिये या हमारे देखने से ही कुछ सूर्योदय नहीं होता। यथार्थ में सूर्योदय होने के कुछ और ही कारण हैं। अच्छा तो अब यदि हमारा सूर्य को प्रति दिन देखना कल सूर्योदय होने का कारण नहीं है तो इसके लिये क्या प्रमाण है कि कल सूर्योदय

होगा ? दीर्घ काल तक किसी वस्तु का क्रम एक सा अबाधित देख पड़ने पर यह मान लेना भी एक प्रकार का विश्वास या श्रद्धा ही तो है कि यह क्रम आगे भी वैसा ही चलता रहेगा। राम को शक्कर मीठी लगती है इसलिए श्याम को भी वह मीठी लगेगी हमारा यह निश्चय या अनुमान बुद्धिगम्य कार्य कारणात्मक नहीं है किन्तु इसका मूल स्वरूप श्रद्धात्मक ही है। जब कोई कहता है कि मुझे शक्कर मीठी लगती है तब इस ज्ञान का अनुभव उसकी बुद्धि को प्रत्यक्ष रूप से होता है अवश्य, परन्तु इससे भी आगे बढ़कर जब हम यह कहते हैं कि शक्कर सब मनुष्यों को मीठी लगती है तब बुद्धि को श्रद्धा की सहायता दिये बिना काम नहीं चल सकता।

रेखागणित या भूमिति शास्त्र का सिद्धान्त है कि ऐसी दो रेखायें हो सकती हैं जो चाहे जितनी बढ़ाई जायें तो भी आपस में नहीं मिलतीं। कहना नहीं होगा कि इस तत्व को अपने ध्यान में लाने के लिये हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभव के भी परे केवल श्रद्धा ही की सहायता से चलना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संसार के सब व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्तियों से ही चलते हैं। इन वृत्तियों को रोकने के अतिरिक्त बुद्धि दूसरा कोई कार्य नहीं करती और जब बुद्धि किसी बात की भलाई या बुराई का निश्चय कर लेती है तब आगे उस निश्चय को कार्यान्वित करने का काम मन के द्वारा अर्थात् मनोवृत्ति के ही द्वारा हुआ करता है। सारांश यह कि बुद्धिगम्य ज्ञान की पूर्णता के लिये ज्ञान को सर्वदा श्रद्धा, दया, वात्सल्य, कर्तव्य-प्रेम इत्यादि नैसर्गिक मनोवृत्तियों की आवश्यकता होती है और जो ज्ञान इन मनोवृत्तियों को शुद्ध तथा जागृत नहीं करता और जिस ज्ञान

को उनकी सहायता अपेक्षित नहीं होती उसे सूखा, कोरा, कर्कश, अधूरा बोझ, या कच्चा ज्ञान समझना चाहिए। जैसे बिना बारूद के केवल गोली से बंदूक नहीं चलती वैसे ही प्रेम, श्रद्धा आदि मनोवृत्तियों की सहायता के बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान किसी को तार नहीं सकता। यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ऋषियों को भली भाँति विदित था। उदाहरण के लिये छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित निम्न कथा पर विचार कीजिये :—

एक दिन श्वेतकेतु के पिता ने यह सिद्ध कर दिखाने के लिए कि अव्यक्त और सूक्ष्म परब्रह्म ही सब दृश्य जगत का मूल कारण है श्वेतकेतु से कहा कि बरगद का एक फल ले आओ और देखो कि उसके भीतर क्या है? श्वेतकेतु ने वैसा ही किया और फल को तोड़ कर देखा और कहा कि भीतर छोटे-छोटे असंख्य बीज हैं। उनके पिता ने तब कहा कि उन बीजों में से एक को लेकर फोड़ो और बतलाओ कि उसके भीतर क्या है। श्वेतकेतु ने एक बीज लेकर फोड़ा और कहा कि उसके भीतर कुछ नहीं है! यह सुन श्वेतकेतु के पिता ने कहा, "अरे! यह जो तुम कुछ नहीं कहते हो उसी से तो यह बरगद का बहुत बड़ा वृक्ष हुआ है!"

इतना कह कर उन्होंने उपदेश दिया कि इस कल्पना को केवल बुद्धि में रख मुँह से ही हाँ मत कहो किन्तु उसके आगे भी चलो। अर्थात् इस तत्व को अपने हृदय में अच्छी तरह जमने दो और आचरण या कृति में दिखाई देने दो। सारांश यह कि सूर्य का उदय कल सबेरे होगा यदि इस निश्चयात्मक ज्ञान के लिये भी श्रद्धा की आवश्यकता है तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि इस बात को पूर्णतया जान लेने के लिये कि सारी सृष्टि का मूलतत्व अनादि, अनंत, सर्वकर्तृ, सर्वज्ञ, स्वतंत्र और

चैतन्यरूप है। हम लोगों को पहिले यथाशक्ति बुद्धिरूपी साधारण मार्ग का अवलंबन करना चाहिये। फिर उसके अनुरोध से कुछ और भी आगे बढ़कर श्रद्धा तथा प्रेम की ही पगडंडी से जाना चाहिये। देखिये मैं जिसे माँ कह कर ईश्वर के सामने वंद्य और पूज्य मानता हूँ उसे ही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं। इस छोटे से व्यावहारिक उदाहरण से यह बात किसी के भी ध्यान में सहज आ सकती है कि जब केवल तर्क शास्त्र के सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान श्रद्धा और प्रेम के साँचे में ढाला जाता है तब उसमें कैसा अंतर हो जाता है। इसीलिये गीता में कहा है कि :—

योगिनामपि सर्वेषां मग्दतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥

अर्थात् संपूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् योगी मेरे में लगे हुये अन्तरात्मा से मेरे को निरंतर भजता है वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है। अर्थात् कर्मयोगियों में भी श्रद्धावान् श्रेष्ठ है।

यदि यही एक अड़चन हो कि साधारण मनुष्यों के लिये निर्गुण परब्रह्म का ज्ञान होना कठिन है तो बुद्धिमान पुरुषों में मतभेद होने पर भी श्रद्धा या विश्वास से उसका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है कि इन पुरुषों में जो अधिक विश्वसनीय होंगे उन्हीं के वचनों पर विश्वास रखने से हमारा काम बन जायेगा। तर्क शास्त्र में इस उपाय को "आप्त-वचन प्रमाण" कहते हैं। "आप्त" का अर्थ विश्वसनीय पुरुष है। जगत् के व्यवहार पर दृष्टि डालने से यही दिखाई देगा कि हजारों लोग आप्त-वाक्य पर विश्वास रख कर ही अपना

व्यवहार चलाते हैं। दो पंजे दस के बदले सात क्यों नहीं होते, अथवा एक पर एक लिखने से दो नहीं होते, ग्यारह क्यों होते हैं। इस विषय की उपपत्ति या कारण बतलाने वाले पुरुष बहुत ही कम मिलते हैं। तो भी इन सिद्धान्तों को सत्य मान कर ही जगत् का व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग बहुत ही कम मिलेंगे जिन्हें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है कि हिमालय की ऊँचाई ५ मील है या दस मील; परंतु जब कोई यह प्रश्न पूछता है कि हिमालय की ऊँचाई कितनी है तब भूगोल की पुस्तक में पढ़ी हुई तेईस हजार फुट संख्या हम तुरंत ही बतला देते हैं। यदि इसी प्रकार कोई पूछे कि "ब्रह्म कैसा है" तो यह उत्तर देने में क्या हानि है कि वह "निर्गुण" है? वह सचमुच ही निर्गुण है या नहीं इस बात की पूरी जाँच कर उसके साधक बाधक प्रमाणों की मीमांसा करने के लिये सामान्य लोगों में बुद्धि की तीव्रता भले ही न हो परंतु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनोधर्म नहीं है जो महाबुद्धिमान पुरुषों में ही पाया जाये। अल्पज्ञ जनों में भी श्रद्धा की कुछ न्यूनता नहीं होती। और जबकि श्रद्धा से ही वे लोग अपने सैकड़ों सांसारिक व्यवहार किया करते हैं तो उसी श्रद्धा से यदि वे ब्रह्म को निर्गुण मान लें तो कोई प्रत्यवाय नहीं देख पड़ता।

मोक्ष धर्म का इतिहास पढ़ने से विदित होगा कि जब ज्ञानी पुरुषों ने ब्रह्मस्वरूप की मीमांसा कर उसे निर्गुण बतलाया उसके पहिले ही मनुष्य ने केवल अपनी श्रद्धा से यह जान लिया था कि सृष्टि की जड़ में सृष्टि के नाशवान् और अनित्य पदार्थों से भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्व है जो अनाद्यंत, अमृत, स्वतंत्र, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है और मनुष्य उसी समय से उस तत्व की उपासना किसी न किसी रूप में

करता चला आया है। यह सच है कि वह उस समय इस ज्ञान की उपपत्ति बतला नहीं सकता था परन्तु आधिभौतिक शास्त्र में भी यही क्रम देख पड़ता है कि पहिले अनुभव होता है और पश्चात् उसकी उपपत्ति बतलाई जाती है। उदाहरणार्थ भास्कराचार्य को अन्त में न्यूटन को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की कल्पना सूझने के पहिले ही यह बात अनादिकाल से सब लोगों को ज्ञात थी कि पेड़ से गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वी पर गिर पड़ता है। श्रद्धा से प्राप्त हुये ज्ञान की जाँच करना और उसकी उपपत्ति खोजना बुद्धि का काम अवश्य है परन्तु सब प्रकार योग्य उपपत्ति के न मिलने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा से प्राप्त होने वाला ज्ञान केवल भ्रम है।

प्रश्न

१—तर्क और श्रद्धा किसे कहते हैं ? इनमें श्रेष्ठतर कौन है ?

२—भास्कराचार्य तथा न्यूटन के संबंध में आप क्या जानते हैं ?

१७—बिहार की सरलता

अहिंसा देवी के साक्षात्कार

[महात्मा मोहनदास करमचंद गाँधी]

चंपारन राजा जनक की भूमि है। चंपारन में जैसे आम के बन हैं उसी तरह १९१७ ई० में नील के खेत थे। चंपारन के किसान अपनी ही जमीन के तीन-बीसवें हिस्से में नील की खेती जमीन के असली मालिक के लिये करने पर कानूनन बाध्य थे। इसे वहाँ "तीन-कठिया" कहते थे। बीस कट्ठे का वहाँ एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे नील बोना पड़ता था। इसीलिये उस प्रथा का नाम पड़ गया था "तीन कठिया"।

मैं यह कह देना चाहता हूँ कि चंपारन में जाने के पहिले मैं उसका नाम-निशान नहीं जानता था। यह खयाल भी प्रायः नहीं के बराबर ही था कि वहाँ नील की खेती होती है। नील की गोटियाँ देखी थीं; परंतु मुझे यह बिलकुल पता न था कि वे चंपारन में बनती थीं और उनके लिये हजारों किसानों को वहाँ दुख उठाना पड़ता था।

राजकुमार शुक्ल नाम के एक किसान चंपारन में रहते थे। उनपर नील की खेती के सिलसिले में बड़ी बुरी बीती थी। यह दुःख उन्हें खल रहा था और उसी के फलस्वरूप सबके लिये

इस नील के दाग को धो डालने का उत्साह उनमें पैदा हुआ था।

जब मैं कॉंग्रेस में लखनऊ गया था, तब इस किसान ने मेरा पल्ला पकड़ा। "वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे"—यह कहते हुये चंपारन चलने का निमंत्रण मुझे देते जाते थे।

यह वकील बाबू और कोई नहीं, (बाद में) मेरे चंपारन के प्रिय साथी, बिहार के सेवा-जीवन के प्राण ब्रजकिशोर बाबू ही थे। उन्हें राजकुमार शुक्ल मेरे डेरे में लाये। वह काले अलपके का अचकन, पतलून वगैरा पहिने हुये थे। मेरे दिल पर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने समझा कि उस भोले किसान को लूटने वाले कोई वकील होंगे।

मैंने उनसे चंपारन की थोड़ी सी कथा सुन ली और अपने रिवाज के मुताबिक जवाब दिया—"जब तक मैं खुद जाकर सब हाल न देख लूँ तब तक मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप कॉंग्रेस में इस विषय पर बोलें; किंतु मुझे तो अभी छोड़ ही दीजिये।" राजकुमार शुक्ल तो चाहते थे कि कॉंग्रेस की मदद मिले। चंपारन के विषय में ब्रजकिशोर बाबू कॉंग्रेस में बोले और सहानुभूति का एक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल को इससे खुशी हुई परंतु इतने ही से उन्हें संतोष न हुआ। वह तो खुद चंपारन के किसानों के दुख दिखाना चाहते थे। मैंने कहा—"मैं अपने भ्रमण में चंपारन को भी ले लूँगा, और एक-दो दिन वहाँ के लिये दे दूँगा।" उन्होंने कहा—"एक दिन काफी होगा। अपनी नजरों से देखिये तो सही।"

लखनऊ से मैं कानपुर गया था। वहाँ भी देखा तो राजकुमार शुक्ल मौजूद। "यहाँ से चंपारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिये।" "अभी तो मुझे माफ कीजिये; पर मैं यह वचन देता हूँ कि मैं आऊँगा जरूर।" यह कह कर वहाँ जाने के लिये मैं और भी बँध गया।

मैं आश्रम पहुँचा तो वहाँ भी राजकुमार शुक्ल मेरे पीछे पीछे मौजूद। "अब तो दिन मुकर्रर कर दीजिये।" मैंने कहा—"अच्छा, अमुक तारीख को कलकत्ते जाना है, वहाँ आकर मुझे ले जाना।" कहाँ जाना, क्या करना, क्या देखना, मुझे इसका कुछ पता न था। कलकत्ते में भूपेन बाबू के यहाँ मेरे पहुँचने के पहिले ही राजकुमार शुक्ल का पड़ाव पड़ चुका था। अब तो इस अपढ़-अनघड़ परंतु निश्चयी किसान ने मुझे जीत लिया।

१९१७ के आरंभ में कलकत्ते से हम दोनों रवाना हुये। हम दोनों की एक-सी जोड़ी—दोनों किसान-से दीखते थे। राजकुमार शुक्ल और मैं—हम दोनों एक ही गाड़ी में बैठे। सुबह पटना उतरे।

पटने की यह मेरी पहिली यात्रा थी। वहाँ मेरी किसी से इतनी पहिचान न थी कि कहीं ठहर सकूँ।

मैंने मन में सोचा था कि राजकुमार शुक्ल हैं तो अनघड़ किसान परंतु यहाँ उनका कुछ न कुछ जरिया जरूर होगा। ट्रेन में उनका मुझे अधिक हाल मालूम हुआ। पटने में जाकर कलई खुल गई। राजकुमार शुक्ल का भाव तो निर्दोष था, परंतु जिन वकीलों को उन्होंने मित्र माना था वे मित्र न थे; बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित की तरह थे।

मुझे वह राजेन्द्र बाबू के यहाँ ले गये। राजेन्द्र बाबू पुरी या कहीं और गये थे। बंगले पर एक दो नौकर थे। खाने के लिये कुछ तो मेरे साथ था परंतु मुझे खजूर की ज़रूरत थी; सो बेचारे राजकुमार शुक्ल ने बाजार से ला दिये।

परंतु बिहार में छुआछूत का बड़ा रिवाज था। मेरे डोल के पानी के छींटे से नौकर को छूत लगती थी। नौकर बेचारा क्या जानता कि मैं किस जाति का था? अंदर के पाखाने का उपयोग करने के लिये राजकुमार ने कहा तो नौकर ने बाहर के पाखाने की तरफ उँगली बताई। मेरे लिये इसमें असमंजस या रोष की कोई बात न थी; क्योंकि ऐसे अनुभवों से मैं पक्का हो गया था। नौकर बेचारा तो अपने धर्म का पालन कर रहा था, और राजेन्द्र बाबू के प्रति अपना फर्ज अदा करता था। इन मजेदार अनुभवों से राजकुमार शुक्ल के प्रति जहाँ एक ओर मेरा मान बढ़ा वहाँ उनके संबंध में मेरा ज्ञान भी बढ़ा। अब पटना से लगाम मैंने अपने हाथ में ले ली।

× × ×

मौलाना मज़हरुलहक और मैं एक साथ लंदन में पढ़ता था। उसके बाद हम बंबई में १६१५ की काँग्रेस में मिले थे। उस साल वह मुसलिम लीग के सभापति थे। उन्होंने पुरानी पहिचान निकाल कर जब कभी मैं पटना आऊँ तो उनके यहाँ ठहरने का निमंत्रण दिया था। इस निमंत्रण के आधार पर मैंने उन्हें चिट्ठी लिखी और अपने काम का परिचय भी दिया। वह तुरंत अपनी मोटर लेकर आये और मुझे अपने यहाँ चलने का इसरार करने लगे। इसके लिये मैंने उनको धन्यवाद दिया और कहा कि "मुझे अपने जाने के स्थान पर पहिली ट्रेन से रवाना

कर दीजिये। रेलवे गाइड से मुझे मुकाम का कुछ पता नहीं लग सकता।" उन्होंने राजकुमार शुक्ल के साथ बात की और कहा कि पहिले मुजफ्फरपुर जाना चाहिये। उसी दिन शाम को मुज़फ्फरपुर की गाड़ी जाती थी। उसमें उन्होंने मुझे रवाना कर दिया। मुज़फ्फरपुर में उस समय आचार्य कृपलानी भी रहते थे। उन्हें मैं पहचानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महात्याग की, उनके जीवन की और उनके द्रव्य से चलने वाले आश्रम की बात डाक्टर चोइथराम के मुख से सुनी थी। वह मुज़फ्फरपुर कॉलेज में प्रोफेसर थे; पर उस समय वहाँ से मुक्त हो बैठे थे। मैंने उन्हें तार दिया। ट्रेन मुज़फ्फरपुर आधी रात को पहुँचती थी। वह अपने शिष्य-मंडल को लेकर स्टेशन आ पहुँचे थे; परंतु उनके घर-बार कुछ न था। वह अध्यापक मलकानी के यहाँ रहते थे; मुझे उनके यहाँ ले गये। मलकानी भी वहाँ के कॉलेज में प्रोफेसर थे और उस जमाने में सरकारी कॉलेज के प्रोफेसर का मुझे अपने यहाँ ठहराना एक असाधारण बात थी।

कृपलानी जी ने बिहार की और उसमें तिरहुत विभाग की दीन-दशा का वर्णन किया और मुझे अपने काम की कठिनाई का अंदाज बताया। कृपलानी जी ने बिहारियों के साथ गाढ़ा संबंध कर लिया था। उन्होंने मेरे काम की बात वहाँ के लोगों से कर रखी थी। सुबह होते ही कुछ वकील मेरे पास आये। उनमें से रामनवमी प्रसाद जी का नाम मुझे याद रह गया है। उन्होंने अपने इस आग्रह के कारण मेरा ध्यान अपनी ओर खींचा था—

"आप जिस काम को करने यहाँ आये हैं वह इस जगह से नहीं हो सकता। आपको तो हम-जैसे लोगों के यहाँ चलकर

ठहरना चाहिये। गया बाबू यहाँ के मशहूर वकील हैं। उनकी तरफ से मैं आपको उनके यहाँ ठहरने का आग्रह करता हूँ। हम सब सरकार से तो जरूर डरते हैं; परंतु हमसे जितनी हो सकेगी आपकी मदद करेंगे। राजकुमार शुक्ल की बहुतेरी बातें सच हैं। हमें अफसोस है कि हमारे अगुआ आज यहाँ नहीं हैं। बाबू-ब्रजकिशोर प्रसाद को और राजेन्द्र प्रसाद को मैंने तार दिया है। दोनों यहाँ जल्दी आ जायेंगे और आपको पूरी पूरी वाकफियत और मदद दे सकेंगे। मिहरबानी करके आप गया बाबू के यहाँ चलिये।"

यह भाषण सुन कर मैं ललचाया; पर मुझे इस भय से संकोच हुआ, मुझे ठहराने से कहीं गया बाबू की स्थिति विषम न हो जाये; परंतु गया बाबू ने इसके विषय में मुझे निश्चिंत कर दिया।

अब मैं गया बाबू के यहाँ ठहरा। उन्होंने तथा उनके कुटुंबी जनों ने मुझ पर बड़े प्रेम की वर्षा की।

ब्रजकिशोर बाबू दरभंगा से और राजेन्द्र बाबू पुरी से यहाँ आये। यहाँ जो मैंने देखा तो वह लखनऊ वाले ब्रजकिशोर प्रसाद नहीं थे। इनके अन्दर बिहारी की नम्रता, सादगी, भलमंसी और असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूल उठा। बिहारी वकील मंडल का उनके प्रति आदरभाव देखकर मुझे आनन्द और आश्चर्य दोनों हुये।

तब से इस वकील-मंडल के और मेरे जन्मभर के लिये स्नेहगाँठ बँध गई। ब्रजकिशोर बाबू ने मुझे सब बातों से वाकिफ कर दिया। वह गरीब किसानों की तरफ से मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे उस समय चल रहे थे। ऐसे मुकदमों

के द्वारा वह कुछ व्यक्तियों को राहत दिलाते थे; पर कभी कभी इसमें भी असफल हो जाते थे। इन भोले भाले किसानों से वह फीस लिया करते थे। त्यागी होते हुये भी ब्रजकिशोर बाबू या राजेन्द्र बाबू फीस लेने में संकोच न करते थे। "पेशे के काम में अगर फीस न ल तो हमारा घर-खर्च नहीं चल सकता और हम लोगों की मदत भी नहीं कर सकते।" यह उनकी दलील थी। उनकी तथा बंगाल-बिहार के बैरिस्टरों की फीस के कल्पनातीत अंक सुनकर मैं तो चकित रह गया। "........ को हमने 'ओपीनियन' के लिये दस हजार रुपये दिये।" हजारों के सिवाय तो मैंने बात ही नहीं सुनी।

इस मित्र-मंडल ने मेरा उलाहना प्रेम के साथ सुना। उन्होंने उसका उलटा अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा—"इन मुकदमों की मिसलें देखने के बाद मेरी तो यह राय होती है कि हम अब यह मुकदमेबाजी छोड़ दें। ऐसे मुकदमों से बहुत कम लाभ होता है। जहाँ प्रजा इतनी कुचली जाती है, जहाँ सब लोग इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ अदालतों के द्वारा बहुत कम राहत मिल सकती है। इसका सच्चा इलाज तो है लोगों के दिल से डर को निकाल देना। इसीलिये अब जब तक यह "तीन कठिया" प्रथा मिट नहीं जाती तब तक हम आराम से नहीं बैठ सकते। मैं तो अभी दो दिन में जितना देख सकूँ, देखने के लिये आया हूँ; परन्तु मैं देखता हूँ कि इस काम में दो वर्ष भी लग सकते हैं; परन्तु इतने समय की भी जरूरत हो तो मैं देने के लिये तयार हूँ। यह तो मुझे सूझ रहा है कि मुझे क्या करना चाहिये; परन्तु आपकी मदत की जरूरत है।"

मैंने देखा कि ब्रजकिशोर बाबू निश्चित विचार के आदमी हैं। उन्होंने शांति के साथ उत्तर दिया—"हम से जो कुछ बन सकेगा वह मदत हम जरूर करेंगे; परन्तु हमें आप बतलाइये कि आप किस तरह की मदत चाहते हैं।"

हम लोग रात भर बैठकर इस विषय पर विचार करते रहे। मैंने कहा—"मुझे आपकी वकालत की सहायता की जरूरत कम होगी। आप लोगों से मैं लेखक और दुभाषिये के रूप में सहायता चाहता हूँ। संभव है, इस काम में जेल जाने की भी नौबत आ जाय। यदि आप इस जोखिम में पड़ सकें तो मैं इसे पसंद करूँगा; परंतु यदि आप न पड़ना चाहें तो भी कोई बात नहीं। वकालत को अनिश्चित समय के लिये बंद करके लेखक के रूप में काम करना भी मेरी कुछ कम माँग नहीं है। यहाँ की बोली समझने में मुझे बहुत दिक्कत पड़ती है। कागज पत्र सब उर्दू या कैथी में लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। उनके अनुवाद की मैं आप से आशा रखता हूँ। रुपये लेकर यह काम करना चाहें तो अपनी सामर्थ्य के बाहर है। यह सब सेवा-भाव से बिना पैसे के होना चाहिये।"

ब्रजकिशोर बाबू मेरी बात को समझ तो गए; परन्तु उन्होंने मुझसे तथा अपने साथियों से जिरह शुरू की। मेरी बातों का फलितार्थ उन्हें बताया। मुझसे पूछा—"आपके अंदाज में कब तक वकीलों को यह त्याग करना चाहिये, कितना करना चाहिये, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी अवधि के लिए आते रहें तो काम चलेगा या नहीं?" इत्यादि। वकीलों से उन्होंने पूछा कि आप लोग कितना-कितना त्याग कर सकेंगे?

अंत में उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया—"हम इतने लोग तो आप जो काम सौंपेंगे करने के लिए तैयार रहेंगे।

इनमें से जितनों को आप जिस समय चाहेंगे आप के पास हाजिर रहेंगे। जेल जाने की बात अलबत्ता हमारे लिए नई है; पर उसकी भी हिम्मत करने की कोशिश करेंगे।"

× × ×

मुझे तो किसानों की हालत की जाँच करनी थी। यह देखना था कि नील के मालिकों की जो शिकायत किसानों को थी, उसमें कितनी सचाई है। इसमें हजारों किसानों से मिलने की जरूरत थी; परन्तु इस तरह आमतौर पर इनसे मिलने जुलने के पहले, निलहे मालिकों की बात सुन लेने और कमिश्नर से मिलने की आवश्यकता मुझे दिखाई दी। मैंने दोनों को चिट्ठी लिखी।

मालिकों के मंडल के मंत्री से मिला तो उन्होंने मुझसे साफ कह दिया, "आप तो बाहरी आदमी हैं। आपको हमारे और किसानों के झगड़े में न पड़ना चाहिए। फिर भी यदि आपको कुछ कहना हो तो लिखकर भेज दीजिएगा।" मैंने मंत्री से सौजन्य के साथ कहा—"मैं अपने को बाहरी आदमी नहीं समझता और किसान यदि चाहते हों तो उनकी स्थिति की जाँच करने का मुझे पूरा अधिकार है।" कमिश्नर साहब से मिला तो उन्होंने तो मुझे धमकाने से ही शुरुआत की और आगे कोई कर्रवाई न करते हुये मुझे तिरहुत छोड़ने की सलाह दी।

मैंने साथियों से ये सब बातें करके कहा कि संभव है सरकार मुझे जाँच करने से रोके और जेलयात्रा का समय शायद मेरे अंदाज से पहिले ही आ जाए। यदि पकड़े जाने का ही मौका आवे तो मुझे मोतीहारी और हो सके तो बेतिया में गिरफ्तार होना चाहिए। इसलिए जितनी जल्दी हो सके मुझे वहाँ पहुँच जाना चाहिए।

चंपारन तिरहुत जिले का एक भाग था और मोतीहारी

उसका एक मुख्य शहर। बेतिया के ही आस-पास राजकुमार शुक्ल का मकान था और उसके आस-पास कोठियों के किसान सब से ज्यादा गरीब थे। उनकी हालत दिखाने का लोभ राजकुमार शुक्ल को था और मुझे भी अब उन्हीं को देखने की इच्छा थी। इसलिये साथियों को लेकर मैं उसी दिन मोतीहारी जाने के लिये रवाना हुआ। मोतीहारी में गोरख बाबू ने आश्रय दिया और उनका घर खासी धर्मशाला बन गया। हम सब ज्यों त्यों करके उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन हमने सुना कि मोतीहारी से पाँचेक मील दूर एक किसान रहता था और उस पर बहुत अत्याचार हुआ था। निश्चय हुआ कि उसे देखने के लिये धरणीधर प्रसाद वकील को लेकर सुबह जाऊँ। तदनुसार सुबह होते ही हम हाथी पर सवार होकर चल पड़े। चंपारन में हाथी लगभग वही काम देता है जो गुजरात में बैलगाड़ी देती है। हम आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि पुलिस सुपरिंटेंडेंट का सिपाही आ पहुँचा और उसने मुझ से कहा—"सुपरिंटेंडेंट साहब ने आपको सलाम भेजा है।" मैं उसका मतलब समझ गया। धरणीधर बाबू से मैंने कहा, आप आगे चलिये और मैं उस जासूस के साथ उस गाड़ी में बैठा जो वह किराये पर लाया था। उसने मुझे चंपारन छोड़ देने का नोटिस दिया। घर ले जाकर उस पर मेरे दस्तखत माँगे। मैंने जवाब दिया कि "मैं चंपारन छोड़ना नहीं चाहता। आगे मुफस्सिलात में जाकर जाँच करनी है।" इस हुक्म का अनादर करने के अपराध में दूसरे ही दिन मुझे अदालत में हाजिर होने का समन मिला।

सारी रात जग कर मैंने जगह-जगह चिट्ठियाँ लिखीं और जो-जो आवश्यक बातें थीं वे ब्रज किशोर बाबू को समझा दीं।

समन की बात एक क्षण में चारों ओर फैल गई और लोग कहते थे कि ऐसा दृश्य मोतीहारी में पहिले कभी नहीं देखा गया था। गोरख बाबू के घर और अदालत में खचाखच भीड़ हो गई। खुशकिस्मती से मैंने अपना सारा काम रात को ही खतम कर लिया था, इससे उस भीड़ का मैं इंतजाम कर सका। इस समय अपने साथियों की पूरी पूरी कीमत देखने का मुझे मौका मिला। वे लोगों को नियम के अंदर रखने में जुट पड़े। अदालत में मैं जहाँ जाता वहीं लोगों की भीड़ मेरे पीछे-पीछे आती। कलेक्टर, मैजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट वगैरा के और मेरे दरमियान भी एक तरह का अच्छा संबंध हो गया। सरकारी नोटिस इत्यादि का अगर मैं बाकायदा विरोध करता तो कर सकता था, परंतु ऐसा करने के बजाय मैंने उनके तमाम नोटिसों को मंजूर कर लिया फिर राज कर्मचारियों के साथ मेरे जाती ताल्लुकात में जिस मिठास का मैंने अवलंबन किया उससे वे समझ गये कि मैं उनका विरोध नहीं करना चाहता। बल्कि उनके हुक्म का सविनय विरोध करना चाहता हूँ। इससे वे एक प्रकार से निश्चिंत हुये। मुझे दिक करने के बजाय उन्होंने लोगों को नियम में रखने के काम में मेरी और मेरे साथियों की सहायता खुशी से ली; पर साथ ही वे यह भी समझ गये कि आज से हमारी सत्ता यहाँ से उठ गई। लोग थोड़ा देर के लिये सजा का भय छोड़कर अपने नये मित्र के प्रेम की सत्ता के अधीन हो गये।

यहाँ पाठक याद रखें कि चंपारन में मुझे कोई पहिचानता न था। किसान लोग बिलकुल अनपढ़ थे। चंपारन गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में नैपाल के नजदीक का हिस्सा

है। उसे नई दुनिया ही कहना चाहिये। यहाँ काँग्रेस का नाम-निशान भी नहीं था, न उसके कोई मेंबर ही थे। जिन लोगों ने काँग्रेस का नाम सुन रखा था वे उसका नाम लेते हुये और उसमें शरीक होते हुये डरते थे; पर आज वहाँ काँग्रेस के नाम के बिना काँग्रेस ने और कांग्रेस के सेवकों ने प्रवेश किया और काँग्रेस की दुहाई घूम गई।

साथियों के साथ कुछ सलाह करके मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेस के नाम पर कुछ भी काम यहाँ न किया जाये। हमको नाम से नहीं काम से मतलब है। "कथनी की नहीं करनी की" जरूरत है। काँग्रेस का नाम यहां लोगों को खलता है। इस प्रांत में काँग्रेस का अर्थ है वकीलों की तू-तू, मैं-मैं, कानून की गलियों में निकल भागने की कोशिश। काँग्रेस का अर्थ यहाँ है बमगोले, और कहना कुछ और करना कुछ। ऐसा खयाल काँग्रेस के बारे में यहाँ सरकार और सरकार की सरकार यानी निलहे मालिकों के मन में था; परंतु हमें यह साबित करना था कि काँग्रेस ऐसी नहीं दूसरी ही वस्तु है। इसलिये हमने यह निश्चित किया था कि कहीं भी काँग्रेस का नाम न लिया जाये और लोगों को काँग्रेस के भौतिक देह का भी परिचय न कराया जाये। हमने सोचा कि वे काँग्रेस के अक्षर को—नाम को जानते हुये उसकी आत्मा को जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है। यही वास्तविक बात है।

इसलिये काँग्रेस की तरफ से किसी छिपे या प्रकट दूतों के द्वारा कोई जमीन तैयार नहीं कराई गई थी; कोई पेशबंदी नहीं की गई थी। राजकुमार शुक्ल में हजारों लोगों में प्रवेश करने की सामर्थ्य न थी। वहाँ लोगों के अंदर किसी ने भी आज तक

कोई राजनीतिक काम नहीं किया था। चंपारन के सिवा बाहर की दुनिया को वे जानते ही न थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप किसी पुराने मित्र के मिलाप-सा था। अतएव यह कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं मालूम होती, बल्कि यह अक्षरशः सत्य है कि मैंने वहाँ ईश्वर का अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया। जब साक्षात्कार-विषयक अपने इस अधिकार पर विचार करता हूँ तो मुझे उसमें लोगों के प्रति प्रेम के सिवा दूसरी कोई बात नहीं दिखाई पड़ती और यह प्रेम अथवा अहिंसा के प्रति मेरी अचल श्रद्धा के सिवा और कुछ नहीं है।

चंपारन का यह दिन मेरे जीवन में ऐसा था, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। यह मेरे तथा किसानों के लिये उत्सव का दिन था। मुझ पर सरकारी कानून के मुताबिक मुकदमा चलाया जाने वाला था; परंतु सच पूछा जाये तो मुकदमा सरकार पर चल रहा था। कमिश्नर ने जो जाल मेरे लिये फैलाया था उसमें उसने सरकार को ही फँसा मारा।

प्रश्न

१—बिहार की सरलता की कुछ बातें बतलाइये।

२—बिहार में नील की खेती के संबंध में कौन कौन से अत्याचार हुये थे?

३—महात्मा गाँधी को चंपारन की ओर खींचने में किसका हाथ प्रमुख था?

१८—अमृतसर-काँग्रेस

[महात्मा मोहनदास करमचंद गाँधी]

फौजी कानून के अनुसार सैकड़ों निर्दोष पंजाबियों को नाम मात्र की अदालतों ने नाममात्र के लिये सबूत लेकर कम या अधिक मियाद के लियेजेलखा नों में ठूँस दिया था; परंतु पंजाब सरकार उन्हें जेल में रख न सकी; क्योंकि इस घोर अन्याय के खिलाफ देश में चारों ओर इतनी बुलंद आवाज उठी कि सरकार इन कैदियों को अधिक समय तक जेल में नहीं रख सकती थी। अतः काँग्रेस के अधिवेशन के पहिले ही बहुतेरे कैदी छूट गये थे। लाला हरकिसनलाल इत्यादि सब नेता रिहा कर दिये गये थे और काँग्रेस का अधिवेशन हो ही रहा था कि अलीभाई भी छूट कर आ पहुँचे। इससे लोगों के हर्ष की सीमा न रही। पंडित मोतीलाल नेहरू जो अपनी वकालत बंद करके पंजाब में डेरा डाले बैठे थे, काँग्रेस के अध्यक्ष थे। स्वामी श्रद्धानंद जी स्वागत-समिति के सभापति थे।

अबतक काँग्रेस में मेरा काम इतना ही रहता था—हिंदी में एक छोटा सा भाषण करके हिंदी की वकालत करना और प्रवासी भारतीयों का पक्ष उपस्थित कर देना। अमृतसर में मुझे यह पता न था कि इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा; परंतु अपने विषय में मुझे पहिले जैसा अनुभव हुआ है उसी के अनुसार यहाँ भी एकाएक मुझ पर एक जिम्मेदारी आ पड़ी।

सम्राट् की नवीन सुधारों के संबंध में घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह मेरे नजदीक पूर्ण संतोषजनक नहीं थी। औरों को तो बिलकुल ही पसंद नहीं आई। सुधारों में भी खामी थी; परंतु उस समय मेरा यही खयाल हुआ कि हम उनको स्वीकार कर सकते हैं। सम्राट् के घोषणापत्र में मुझे लार्ड सिनहा का हाथ दिखाई दिया था। उसकी भाषा में उस समय मेरी आँखें आशा की किरणें देख रही थीं; हालाँ कि अनुभवी लोकमान्य, चित्तरंजनदास इत्यादि योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत भूषण मालवीय जी मध्यस्थ थे।

मेरा डेरा उन्होंने अपने ही कमरे में रखा था। उनकी सादगी की झलक मुझे काशी में विश्वविद्यालय के शिलारोपण के समय हुई थी; परंतु इस समय तो उन्होंने मुझे अपने ही कमरे में स्थान दिया था। इसलिये मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे आनंद के साथ आश्चर्य हुआ था। उनका कमरा मानों गरीब की धर्मशाला थी। उसमें कहीं भी रास्ता नहीं छूटा था, जहाँ तहाँ लोग डेरा डाले हुये थे। न उसमें एकांत की गुंजाइश थी, न फैलाव की। जो चाहता वहाँ आ जाता और उनका मनमाना समय ले जाता। इस दरबे के एक कोने में मेरा दरबार अर्थात् खटिया लगी हुई थी।

पर यह अध्याय मुझे मालवीय जी की रहन-सहन के वर्णन में खर्च नहीं करना है। इसलिये अपने विषय पर आ जाता हूँ।

इस स्थिति में मालवीय जी के साथ रोज संवाद हुआ करता था और वह मुझे सब पक्षों की बातें उसी तरह प्रेम पूर्वक समझाते जैसा कि बड़ा भाई छोटे भाई को समझाता है। मुझे यह जान पड़ा कि सुधार संबंधी प्रस्ताव में मुझे भाग लेना

चाहिये। पंजाब हत्याकांड संबंधी काँग्रेस की रिपोर्ट की जिम्मेदारी में मेरा हाथ था ही। पंजाब के संबंध में सरकार से काम भी लेना खिलाफत का मामला था ही। यह भी मेरी धारणा थी कि मांटेगू हिन्दुस्तान के साथ दगा नहीं होने देंगे। कैदियों के और उसमें भी अली भाइयों के छुटकारे को मैंने शुभ चिह्न माना था। इसलिये मैंने सोचा कि सुधारों को स्वीकार करने का प्रस्ताव होना चाहिये। किंतु चित्तरंजनदास की मजबूत राय थी कि सुधारों को बिलकुल असंतोषजनक और अधूरा मान उसको रद्द कर देना चाहिये। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे; परंतु देशबंधु जिस प्रस्ताव को पसन्द करें उसके पक्ष में अपनी शक्ति लगाने का निश्चय उन्होंने किया था।

ऐसे भुक्त-भोगी सर्वमान्य लोक-नायकों से मेरा मतभेद मुझे असह्य हो रहा था। दूसरी ओर मेरा अंतर्नाद स्पष्ट था। मैंने काँग्रेस के अधिवेशन में से भाग जाने का प्रयत्न किया। पंडित-मोतीलाल जी नेहरू और मालवीय जी को मैंने सुझाया कि मुझे अधिवेशन में गैरहाजिर रहने देने से सब काम सध जायँगे और मैं महान् नेताओं के इस मतभेद से भी बच जाऊँगा।

पर यह बात उन दोनों बुजुर्गों को न पटी। लाला हरकिसनलाल के कान पर बात आते ही उन्होंने कहा—"यह कभी नहीं हो सकता। पंजाबियों को इससे बड़ी चोट पहुँचेगी।" लोकमान्य और देशबंधु के साथ मशवरा किया। श्री जिना से भी मिला। किसी तरह कोई रास्ता नहीं निकला। मैंने अपनी वेदना मालवीय जी के सामने रखी।

"समझौते के आसार मुझे नहीं दिखाई देते, यदि मुझे अपना प्रस्ताव पेश करना ही पड़े तो अंत को मत तो लेने ही

पड़ेंगे। मत लिये जाने की सुविधा यहाँ मुझे दिखाई नहीं देती। आज तक भरी सभा में हम लोग हाथ ही ऊँचे उठवाते आये हैं। दर्शकों और सदस्यों का भेद हाथ ऊँचा करते समय नहीं रहता। ऐसी विशाल सभा में मत गिनने की सुविधा हमारे यहाँ नहीं होती, इसलिये यदि मैं अपने प्रस्ताव के संबंध में मत लिवाना चाहूँ भी तो उसका प्रबंध नहीं।" मैंने कहा।

लाला हरकिसनलाल ने इसकी संतोषजनक सुविधा कर देने का बीड़ा उठाया। उन्होंने कहा कि जिस दिन मत लेना हो उस दिन दर्शकों को न आने देंगे, सिर्फ प्रतिनिधि ही आयेंगे और मत गिना देने का जिम्मा मेरा; पर आप काँग्रेस की बैठक में गैरहाजिर नहीं रह सकते।

अंत को मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव बनाया और बड़े संकोच के साथ उसे पेश करना स्वीकार किया। श्री जिना और मालवीय जी समर्थन करने वाले थे। भाषण हुये। मैं देख सकता था कि यद्यपि हमारे मतभेद में कहीं कटुता न थी, भाषण में भी दलीलों के सिवा और कुछ न था, फिर भी सभा इतने मतभेद को सहन नहीं कर सकती थी, और उसे दुःख हो रहा था। सभा एकमत चाहती थी।

उधर भाषण हो रहे थे, पर इधर भेद मिटाने के प्रयत्न चल रहे थे। आपस में चिट्ठियाँ जा-आ रही थीं। मालवीय जी तो हर तरह से समझौता करने के लिये मिहनत कर रहे थे। इतने में जयरामदास ने अपना सुझाव मेरे हाथ में रखा और बड़े मधुर शब्दों में मत देने के संकट से प्रतिनिधियों को बचा लेने का अनुरोध मुझसे किया। मुझे वह पसंद आ गया। मालवीय जी की नजर तो चारों ओर आशा की खोज में फिर ही रही थी। मैंने कहा कि यह संशोधन दोनों को स्वीकार हो सकता

है। लोकमान्य को बताया, उन्होंने कहा, दास को पसंद हो तो मुझे आपत्ति नहीं। देशबंधु पिघल गये। उन्होंने बिपिनचंद्र पाल की ओर देखा। मालवीय जी को अब पूरी आशा बँध गई और उन्होंने चिट्ठी हाथ से छीन ली। देशबंधु के मुँह से " हाँ " शब्द अभी पूरा निकला ही नहीं था कि वह बोल उठे—"सज्जनो, आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि समझौता हो गया है।" फिर तो क्या पूछना था ? तालियों की हर्षध्वनि से सारा मंडप गूँज उठा और लोगों के चेहरों पर जहाँ गंभीरता थी वहाँ खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, उसकी चर्चा करने की यहाँ जरूरत नहीं, क्योंकि यह प्रस्ताव कैसे हुआ, यही बताना मेरे इन प्रयोगों का विषय है।

समझौते ने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

प्रश्न

१—अमृतसर काँग्रेस किस सन् में तथा किस परिस्थिति में हुई थी ?

२—वह कौन सा प्रस्ताव था जिस पर इतनी कठिनाई से समझौता हो सका था ?

१६—एक मनोरंजक घटना

[डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद]

थोड़े ही दिनों बाद, मार्च १६२१ में बेजवाड़ा में अखिल-भारतीय काँग्रेस कमेटी की बैठक हुई। वहाँ निश्चय हुआ कि लोकमान्य तिलक के स्मारक रूप में एक करोड़ रुपये स्वराज्य के काम के लिये, तिलक-स्वराज्य-फण्ड के नाम से, ३० जून तक जमा कर लिये जायँ—बीस लाख चर्खे जारी हो जायँ और काँग्रेस के एक करोड़ मेम्बर बना लिये जायँ। बेजवाड़ा पहुँचने के पहिले महात्मा जी दौरा कर रहे थे। मैं कलकत्ते से ही महात्मा जी के साथ उड़ीसा गया। वहाँ उन दिनों अकाल था। महात्मा जी को इसकी खबर पहले से थी। उन्होंने कुछ मदद भी करायी थी। अकाल पीड़ितों को महात्मा जी के आगमन की खबर मिली थी। बहुतेरे दूर दूर से आये थे। महात्मा जी ने उनके अस्थि-पंजरों को देखा। वह बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने एक लेख में उड़ीसा के नंगे-भूखे कंकालों का जबरदस्त जिक्र किया। मैंने कई बार उन गरीबों की याद करके उन्हें आह भरते भी देखा है। एक बड़े मकान में वह ठहराये गये थे। एक ओर श्री जगन्नाथ जी का विशाल मन्दिर, पंडों और धनी-मानी लोगों का सुखमय जीवन, महात्मा जी के स्वागत के लिये धूम धाम, और दूसरी ओर ये नंगे-भूखे कंकाल।

उड़ीसा को ही किसी सभा में महात्मा जी ने बहुत मार्के का भाषण किया था, जिसका असर आज तक मेरे दिल पर है। सभा में किसी ने महात्मा जी से प्रश्न किया कि आप अँगरेजी शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं—अँगरेजी शिक्षा ने ही तो राजा राम मोहन राय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है ! महात्मा जी ने उत्तर में कहा "मैं तो कुछ नहीं हूँ; पर लोकमान्य तिलक भी जो हैं, उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अँगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता। राजा राममोहन और लोकमान्य तिलक श्री शंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविंदसिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं ? आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था, तो भी उन्होंने विचार की दुनियाँ में कितनी बड़ी क्रांति मचा दी थी।' अँगरेजी राज्य के सबंध में भी उन्होंने कहा कि मुगल राज्य में अकबर के समय में राणा प्रताप और औरंगजेब के दिनों में शिवा जी जैसे वीरों के लिये सुअवसर था, आज वह कहाँ है ? इस प्रकार एक बड़े प्रभावशाली भाषण में उन्होंने यह दिखला दिया कि यह हम लोगों का मोह है जो अँगरेजी शिक्षा को ही देशभक्ति का कारण बताते हैं। हाँ, अँगरेजी जानना बुरा नहीं है। उसे हम में से बहुतेरों को जानना होगा। हम उसे सीखेंगे भी; पर आज की तरह वह शिक्षा का माध्यम नहीं रह सकती।

उड़ीसा से महात्मा जी के साथ मैं बेजवाड़ा गया। रास्ते के दृश्य अवर्णनीय हैं। जैसा उत्साह अपने सूबे में देखा था, वैसा ही आन्ध्रदेश में भी देखने में आया। वही जनता की भीड़, वही दशों दिशाओं को गुँजाने वाले नारे। स्टेशनों पर वही जनसमूह,

चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर लोगों का वही जमघट और वही विराट सभाएँ। मुझे याद है कि विजय नगर में हम लोग रात को प्रायः ३ बजे रेल से उतरे। सारे शहर में लोगों ने दिवाली मनाई थी। हम और बिहार के प्रतिनिधि बेजवाड़ा से लौटते समय रेल में कार्य-क्रम पूरा करने के संबंध में परस्पर बातें करने लगे। एक प्रकार से पटना पहुँचते पहुँचते यह निश्चय कर लिया गया कि यह काम कैसे पूरा किया जायगा। रुपये जमा करने और चरखा चलवाने की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। मैं भी दिन रात सारे सूबे में दौड़ता और रुपये जमा करने में लगा रहा। सब जिलों में कार्यकर्त्ता इस काम में दिलोजान से लग गये। रुपये जैसे जैसे जुटते बैंक में जमा होते। हम लोगों ने कई प्रकार की रसीदें छपवा ली थीं जिनसे यह सुविधा होती थी कि प्रत्येक आदमी को रसीद लिखकर देने की जरूरत नहीं होती। कम-से कम चार आने की रसीद थी। बड़ी रकमों के लिये लिखकर रसीद दे दी जाती। इसके पहिले बिहार में सार्वजनिक काम के लिये जनसाधारण से इस प्रकार कभी रुपये नहीं माँगे गये थे। हम भी नहीं जानते थे कि हम कहाँ तक सफल होंगे। पर लोगों में उत्साह देखकर आशा बढ़ती जाती थी। हमको बहुत बड़े और धनी लोगों से बहुत ज्यादा नहीं मिला। पर हर जिले में मझोले दर्जे के लोगों ने बहुत उत्साह-पूर्वक चन्दा दिया। अन्त में ३० जून तक हमने सात-आठ लाख के लगभग जमा कर लिया। ३० जून को गाँधी-जी को तार द्वारा इसकी सूचना दे दी गई। इस काम में सबसे ज्यादा उत्साह तिरहुत डिवीजन के जिलों ने दिखाया—यद्यपि और जिले भी कुछ बहुत पीछे नहीं थे।

बिहार के कई जिलों में घूमते-घूमते काफी अनुभव हुआ।

कहीं कहीं कुछ दिलचस्प घटनाएँ भी हुईं। मनोविनोद के लिये एक घटना का वर्णन कर देता हूँ।

जून का महीना था। मैं राँची जिले में तिलक-स्वराज्य कोष के लिये रुपया जमा करने गया। वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने मेरे लिये दो दिनों का कार्यक्रम, जिले के विभिन्न स्थानों में जाने के लिये, बना लिया। पहिले दिन राँची से मोटर पर चलकर १० बजे तक 'बुन्डू' पहुँच वहाँ का काम समाप्त करना था। दोपहर का भोजन राँची ही वापस आकर करना था। सेपहर को 'खूँटी' जाना था। रात तक फिर राँची वापस आना था। दूसरे दिन सबेरे 'लोहरदग्गा' जाना था। वहाँ से दोपहर तक वापस आकर तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिये रवाना होना था।

हम लोग राँची में सबेरे ही नहा धोकर तैयार हो गये। टैक्सी के आने में कुछ देर हो गई। हम सात आदमी, जिसमें एक ड्राइवर और दूसरा क्लीनर था, उस पर सवार होकर रवाना हुए। यह सोचा गया था कि दोपहर को राँची में ही आकर भोजन करना होगा। इसलिये हमने साथ में कुछ भी न लिया। जो कुरते पहिने और चादर लिये हुए थे, वही सारा सामान था। डाक्टर पूर्ण मित्र ने, जो वहाँ के नेता थे, साथ में एक छोटा सा बेग रख लिया था, जिसकी खबर हम लोगों को उस समय नहीं थी। कुछ दूर जाने पर, एक जंगल में पहुँचने पर मोटर में कुछ टूट गया। ड्राइवर ने मरम्मत शुरू की और कहा कि बस दस-पाँच मिनिट में तैयार कर लूँगा। मरम्मत में देर होने लगी। ज्यों ज्यों हम घबराते वह आश्वासन देता जाता। दो तीन घंटों के बाद उसने कहा कि लोहार की जरूरत होगी। तलाश करने पर एक गाँव मिला, जहाँ लोहार के घर

आकर उसने कुछ पीट पाट कर दुरुस्त कराया। जंगल में कुछ भी खाने पीने का सामान नजर नहीं आता था। इमली के वृक्ष थे। उनमें इमली के फल के गुच्छे लटक रहे थे। हम लोग उन्हें तोड़ तोड़ कर जबान और दाँत खट्टे करते रहे। दोपहर के बाद प्यास ने जोर किया। फिर गाँव तलाश करके लोटा बाल्टी मँगनी माँगी गई। बहुत दूर से पानी लाकर प्यास बुझाई गई।

जब मरम्मत का काम जारी था, एक दूसरी मोटर पर सवार पुलिस वाले जाते हुए नजर आये। हम लोगों को देखकर उन्होंने अपनी गाड़ी रोक ली। हमने उनसे कहा कि हम 'बुण्डू' शीघ्र ही पहुँचते हैं आप वहाँ कह देंगे कि मोटर बिगड़ने के कारण हम लोगों के आने में कुछ विलम्ब हो रहा है। उन्होंने मोटर रोककर हम लोगों का हाल जान लेने की शिष्टता तो की थी; पर यह संवाद वहाँ पहुँचाने की भद्रता नहीं की। वहाँ तो जनता कुछ दूर दूर के गाँवों से भी आई थी, हम लोगों का तीन चार बजे तक इन्तजार करके जहाँ-तहाँ चली गई।

अन्त में मोटर मरम्मत हो गई। हम लोग पाँच-छः बजे शाम तक 'बुण्डू' पहुँचे। जो लोग गाँवों से आये थे, वे तो चले गये थे। पर खास 'बुण्डू' के लोगों में हमारे पहुँचने की खबर बात की बात में पहुँच गई। सभा जुट गई। हसब-मामूल वहाँ भी भाषण हुआ। रुपये जमा किये गये। जहाँ तक मुझे याद है, वहाँ सात आठ सौ रुपये के लगभग धन एकत्र हुआ।

काम खतम करके हम लोग तुरंत चलने के लिये तैयार हुए। पर दिन भर केवल इमलियों पर ही बीता था, इसलिये वहाँ के लोगों ने भोजन कर लेने का आग्रह किया। हमने भी उसे मान लिया। रसोई तयार होते—हवाते ६-१० बज गये। अंत

में भोजन करके यह विचार होने लगा कि अब क्या किया जाय। उस दिन 'खूँटी' का प्रोग्राम छूट चुका था। दूसरे दिन लोहरदग्गा का प्रोग्राम किसी तरह छूटना न चाहिये। तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिये रवाना होना भी अत्यन्त आवश्यक था। कुछ लोगों का विचार हुआ—विशेषकर मोटर वाला इस पर जोर देने लगा—कि रात को चलना ठीक नहीं है. रास्ते में जंगल है, खतरा है, मोटर भी न मालूम कहीं बिगड़ गई तो रात का समय बड़ा भयानक होगा। मैं समझता था कि वह बहाना कर रहा है—इतनी देर तक मोटर की मरम्मत की गई थी, और वह ठीक चली भी थी, अब क्या बिगड़ेगी। विशेषकर दूसरे दिन के कार्यक्रम की मुझे चिन्ता थी। मैंने बहुत जोर लगाया कि नहीं, जरूर चला ही जाय।

अन्त में प्रायः ११-१२ बजे रात में उसी टूटी मोटर पर, हम सात आदमी सवार होकर रवाना हुए। बीच में थोड़ी ही दूर पर एक घाट है जहाँ कुछ ऊँची चढ़ाई है। उस चढ़ाई पर चढ़ते समय मोटर फिर टूट गई। जहाँ मोटर टूटी वहाँ से प्रायः दो-ढाई सौ गज और ऊपर चढ़ना था। उसके बाद उतार था। उतार में यदि इंजिन न भी काम करे, तो मोटर आसानी से चली जायगी, ऐसा ड्राइवर ने कहा। हम लोगों ने भी ऐसा ही अनुमान किया। घाट से उतर कर ही एक डाक बँगला था। हमने सोचा कि डाक-बँगले तक अगर हम किसी तरह पहुँच जायँ तो वहाँ रात आराम से कटेगी, हम सो सकेंगे। अपनी बेवकूफी से और उत्साह में हमने यह निश्चय किया कि जो थोड़ी चढ़ाई है उसे हम लोग मोटर ढकेल करके ही पार कर लेंगे। इसलिये हमने मोटर को आगे ढकेलना शुरू किया। २०-३० गज तक मोटर ढकेल ले गये। वहाँ ढाल बहुत कम थी

और ऊँचाई अधिक। मोटर का ऊपर चढ़ना बहुत कठिन था। पर हम लोगों ने जोर लगाया। नतीजा यह हुआ कि चन्द गज ऊपर ढकेलने के बाद मोटर उल्टे पीछे की ओर झुकी। हम अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे रोकने लगे। किसी-किसी तरह उसे एक खड्ड में गिरने से हम बचा सके। इसके बाद अब फिर हिम्मत न हुई कि मोटर ढकेलने की कोशिश की जाय।

रात के शायद १२-१ बजे होंगे। मध्य जंगल में हम सात आदमी किसी तरह मोटर में बैठकर आये थे। दिन भर की थकान के बाद रात को सोना भी आवश्यक था। ड्राइवर उस निर्जन स्थान की भयानक बातें कहकर, हम लोगों को डराता भी जाता था। उसने कहा कि यहाँ हिंसक जानवरों और चोर डाकुओं दोनों का डर था। हमनें कहा कि चोर डाकू हमसे लेंगे ही क्या, हमारे पास तो कुछ नहीं है। हाँ यदि जंगली जानवर आ जाय तो उसका भय अवश्य है। मैंने यह कह तो दिया, पर मुझे यह नहीं मालूम था कि डाक्टर ने बुण्डू के मिले रुपयों को अपने बेग में रख लिया था। वह बेग साथ ही था। उस समय मेरी बात सुनकर डाक्टर भी कुछ न बोले। मैं भी दूसरे दिन सुबह तक इसी भूल में था कि हमारे हाथ बिलकुल खाली हैं।

हम सलाह कर ही रहे थे कि जंगल के भीतर से गरगराहट सुन पड़ी। ड्राइवर तो बहुत डर गया। कहने लगा, यह भयानक आवाज बनैले जानवर की है। कुछ ही देर में आवाज बंद हो गई। हम सब शान्त होकर किसी तरह मोटर में बैठ गये। कुछ देर बाद जब फिर कुछ चित्त शांत हुआ तो हमने सोचा कि मोटर वहीं छोड़ दी जाय और हम लोग डाक-बँगले तक पैदल चलकर वहाँ सोवें, फिर सबेरे मोटर का कुछ प्रबंध किया

जायगा। मगर ड्राइवर इस पर राजी न हुआ। जब हम लोगों ने कहा कि हम लोग चले जाते हैं, तुम मोटर के साथ यहीं ठहरो, तो वह रोने-चिल्लाने लगा।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि तीन आदमी मोटर के साथ ठहर जायँ, बाकी चार आदमी डाक-बँगले पर चले जायँ। रात चाँदनी थी, यही एक चीज थी जिससे कुछ हिम्मत बनी रहती थी। डाक-बँगला पहुँचते-पहुँचते हम लोग प्यास के मारे परेशान थे। डाक-बँगले में कोई था नहीं; दरवाजे बंद थे; हमने सोचा कि दरवाजा किसी तरह खोला जाय। इसमें हम सफल भी हो गये। अन्दर से टटोलकर एक बाल्टी निकाली गई। दो चारपाइयाँ और दो मेजें थीं। वे भी बाहर निकाली गईं। पर बाल्टी से तो प्यास बुझती न थी, कुएँ और डोरी की आवश्यकता रह ही गयी। हम लोग फिर एक बार डाक-बँगले के आस-पास चौकीदार की खोज मे निकले। कुछ दूर पर देखा कि एक आदमी एक बच्चे को बगल में लेकर गाढ़ी नींद में सोया हुआ है। उस घोर जंगल में बच्चे के साथ उस आदमी को इस प्रकार निश्चिंत सोते देखकर हम अचम्भे में आ गये। वह बहुत पुकारने पर जगा। ऊँघते ऊँघते ही उसने कहा कि डोरी तो नहीं है, पर कुआँ जंगल में थोड़ी ही दूर घुसने पर मिलेगा।

प्यास से हम लोग परेशान थे। इसलिये फिर कुएँ की तलाश में निकले। वह मिला भी। अपनी चादरों को जोड़कर डोरी बनाई गई। उसी से बाल्टी में पानी निकाला गया। पानी पीकर हम लोगों में से कुछ तो चारपाई पर और कुछ टेबुल पर सो रहे। सोने का समय थोड़ा ही मिला। सबेरे उठकर, मुँह हाथ धोकर हम लोगों ने सोचा कि यहाँ तो कोई सवारी मिलने वाली नहीं है, इसलिये राँची की ओर हम लोग पैदल

ही बढ़ें; कोई गाँव मिल जायगा तो वहाँ कुछ खाने का भी प्रबंध हो सकेगा।

सब लोग चलने पर राजी नहीं थे। इसलिये मैं तथा एक आदमी और, दोनों चल पड़े। वहाँ से तीन चार मील जाने पर एक गाँव मिला, जहाँ कुछ चने मिले। प्रायः ६ बजे चले थे। चने चबाकर हम लोग कुछ विश्राम करने लगे। धूप कड़ी हो गई थी। शीतल हवा चल रही थी। तुरंत नींद आ गई। प्रायः एक-डेढ़ घंटे के बाद किसी ने आकर जगाया। मालूम हुआ कि राँची के भाइयों ने कल दोपहर तक हमारी बाट जोही। जब हम नहीं पहुँचे तो दूसरी टैक्सी करके हमारी खोज में कुछ लोगों को भेजा। उन्होंने भूल यह की कि इस टैक्सी पर भी प्रायः पूरा बोझ लेकर तीन चार आदमी आये। हम लोग पाँच आदमी तो, मोटरवालों को छोड़कर, एक गाड़ी का बोझ पहिले से थे ही हमने कहा कि हममें से जो लोग अभी पीछे छूटे थे उनको पहिले राँची पहुँचाओ, फिर दुबारा मोटर ले आओ तो हम दोनों चलेंगे। उन्होंने भी इसे पसन्द किया। हम लोग प्रायः डेढ़-दो घंटे आराम से सोये। फिर जब मोटर प्रायः एक बजे के करीब आई तो राँची गये। वहाँ कुछ भोजन करके सेपहर की गाड़ी से सीधे पटने के लिये रवाना हो गये।

इतनी दिलचस्प तो नहीं, पर इस प्रकार की कई घटनाएँ उन दिनों के सफर में होती रहीं।

प्रश्न

१—तिलक स्वराज्य कोष के लिये राँची के दौरे में देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को किन कष्टों का सामना करना पड़ा था?

२०—...........“और देश भर का दौरा”

[डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद]

बरार की यात्रा समाप्त करके मैं सीधे कर्नाटक चला गया। यहाँ के सभी जिलों में दौरा किया। उसके बाद सारे महाराष्ट्र में गया। मैं सबेरे उठता और नहा धोकर प्रायः ७ बजे मोटर पर निकल जाता। स्थान-स्थान पर सभा करता हुआ, दिन के १२ बजे तक कहीं पहुँचता, जहाँ भोजनादि का प्रबन्ध रहता। भोजन और विश्राम के बाद प्रायः दो बजे फिर निकल जाता और रात के ८-९ बजे तक सभा करता। रात को विश्राम के स्थान पर पहुँच जाता। रेल पर कम चलता। अधिकतर मोटर पर ही सारी यात्रा समाप्त हुई। बस कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में ही प्रायः आधा अप्रैल, मई और प्रायः पूरा जून समाप्त हो गया। इस बीच में केवल दो तीन दिनों के लिये मैं एक बार अपने घर गया—भाई साहब के वार्षिक श्राद्ध के लिये, जून के आरंभ में।

सभी जगहों में बड़े-बड़े जलूस निकले, बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं। छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों तक में मुझे जाने का और लोगों से मिलने का मौका मिला। कर्नाटक के जंगलों और पहाड़ों से होते हुए समुद्र के किनारे से लेकर मैसूर तक गया। फिर वहाँ से लौटते समय शोलापुर, सतारा, पूना, बेलगाँव, मालवन, रत्नागिरि, नासिक, अहमदनगर इत्यादि नगरों में भी जाने का मौका मिला। सुन्दर से सुन्दर प्रदेश और दृश्य देखने

को मिले। पहाड़ों की प्राकृतिक छटा, जगलों के सुन्दर सुहावने दृश्य, दक्षिण भारत की हरियाली और समुद्र की अनंत जल-राशि, सबके दर्शन हुए। मोटर पर जाने के कारण इन दृश्यों के देखने की और भी सुविधा हुई लोगों की रंग बिरंग वेशभूषा तथा भाषा की विचित्रता देखी। पर इन सबकी तह में भारत की एकता झलक रही थी। वह कहीं भी खो नहीं सकती थी। एक तरफ सतारा और शोलापुर की तपती धूप मिली और दूसरी ओर मैसूर और कुर्ग के जंगलों की ठंडी हवा शरीर को सुख पहुँचाती मिली। मरकरा में ऊँची पहाड़ी के समतल पर सभा के लिये एक अत्यन्त मनोरंजक स्थान है। वहाँ हजारों फुट ऊँचाई पर एक ओर सभा होती थी और दूसरी ओर हजारों फुट नीचे, जहाँ तक नजर पहुँच सकती थी हरा भरा जंगल ही जंगल दीख रहा था। जमीन कहीं ऊँची कहीं नीची पर सभी जगह सब्ज-सब्ज ही नजर आती। वहाँ के लोगों की पोशाक भी अपने ढंग की निराली थी। स्त्रियाँ सिर पर एक बेनी बाँधती हैं। पुरुष अँगरखा पहिनते और एक प्रकार की कुकड़ी या तलवार कमर में बाँधते हैं। जंगल इतने घनघोर हैं कि सुना वहाँ हाथी भी होते हैं और शेर वगैरह तो होते ही हैं।

महाराष्ट्र की यात्रा में एक बात हुई जिसका जिक्र कर देना ठीक मालूम होता है। मैंने देखा कि वहाँ के लोगों को फूलों का बहुत शौक है। स्वागत के लिये वे फूल की मालाएँ बहुत लाते। वहाँ का यह भी रवाज है कि जब कोई प्रतिष्ठित अतिथि आता है तो उसके स्वागत में बहुत सी संस्थाएँ शरीक होती हैं और सभी की ओर से अलग अलग हार दिये जाते हैं। इस तरह एक एक सभा में कितने ही हार मुझे दिये जाते। फूल के हार कुछ ठहरने वाले तो होते नहीं दिन समाप्त होते होते मुरझा जाते

और उनको फेंक देना पड़ता। रास्ते में वे गाड़ी के लिये भी बोझ बढ़ा देते। जहाँ स्थानीय बाजार में हार न मिलते वहाँ लोग दूर दूर से पार्सल करके हार मँगवाते। इसमें पैसे भी लगते और उनसे कोई काम भी पूरा न होता। इसलिये मैंने एक अपील निकाल दी कि लोग यदि स्वागत सम्मान करना चाहते हैं तो बेहतर हो कि फूल के हार न देकर हाथ के कते सूत का हार मुझे दें। श्री शंकरराव देव ने मेरी इस उक्ति को पसंद किया। उन्होंने भी इस पर जोर दे डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि महाराष्ट्र और दूसरे प्रान्तों में जहाँ-जहाँ मैं सफर में गया सूत के हार मुझे दिये गये। मैं सूत की मालाओं को जमा करके साथ ले आया। बुनवाने पर इतना ज्यादा कपड़ा हुआ कि मित्रों को कुछ बाँटने के बाद भी मुझे कई वर्षों तक खादी खरीदने की जरूरत न पड़ी।

महाराष्ट्र कमेटी ने यह भी निश्चय किया था कि मैं जहाँ जाऊँ लोग कुछ पैसे भी भेंट करें। उसी प्रान्त से यह बात आरंभ की गई। छोटी-छोटी सभाओं में लोग कुछ न कुछ पहिले से जमा करके रखते, थैली भेंट देते। छोटे-छोटे गाँव में भी इस तरह की भेंट मिली। कहीं-कहीं रास्ते में भी गाड़ी रोक कर भेंट दी जाती। इस तरह प्रायः २०-२२ हजार रुपये जमा हो गये। इसका थोड़ा अंश अखिल भारतीय कमेटी के लिये कृपलानी जी ने ले लिया और प्रायः तीन चौथाई से भी अधिक वहीं की प्रान्तीय कमेटी को वहाँ के काम के लिये दे दिया गया। इस सारे सफर में महाराष्ट्र के कार्यकर्त्ताओं की कार्य-कुशलता और कारबारी तरीकों से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यात्रा-क्रम ऐसा बनाया गया था कि मुझे ठीक समय से सभी स्थानों में पहुँचने का मौका मिला। श्री शंकरराव देव मुझे यह भी कह देते कि किस स्थान पर कितनी देर ठहरना है और मैं उसी के अनुसार

अपने भाषण में भी समय लगाता। अगर कुछ भी देर होने लगती तो वह छड़ी दिखला देते। चाहे सवेरे खाना होने में, चाहे दोपहर के आराम के बाद चलने में चाहे किसी स्थान की सभा समाप्त करने में, वह सर्वत्र पूरी कड़ाई से समय पर काम करते-कराते। इससे यह हुआ कि बिना कष्ट के सारा कार्य-क्रम दिन भर में समाप्त होता और भोजन तथा आराम के लिये यथोचित समय भी मिल जाता।

ऐसा सभी सूबों में नहीं हुआ। कहीं-कहीं तो रात में एक या दो बजे भी जाकर रात में सभा करनी पड़ी। हमारे अपने प्रान्त में ही, जब १९३७ में पंडित जवाहरलाल जी आये, बाँकीपुर में रात के बारह बजे और पटना सिटी में रात के दो बजे, जनवरी के महीने में, सभा हुई। जनता उस कड़ी सरदी में, संध्या छः बजे से दो बजे रात तक खुले मैदान में बैठी रही। जब मैं महाराष्ट्र का वह संगठन स्मरण करता हूँ तो वहाँ के लोगों की कार्य-दक्षता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। पर अपने सूबे की अव्यवस्था के लिये क्या कहूँ। जनता का उतनी देर इंतजारी करना उसके उत्साह और धैर्य का सूचक था, तो अतिथि के पहुँचने में उतनी देर हमारी अव्यवहार्यता का सूचक था। पर मैंने देखा है कि इस देर के कारण में जनता का भी पूरा हाथ रहता है। जन समूह भारी संख्या में जमा होता है। वह यदि पहिले से अपने स्थान पर ठीक नियंत्रण में बैठा रहे तो अतिथि को मंच तक पहुँचने में कठिनाई न हो और वहाँ पहुँच कर वह अपना काम भी जल्दी से समाप्त कर सकता है। पर ऐसा नहीं होता। जनता की भीड़ अतिथि को घेर लेती है। उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। उसके बाद मंच तक पहुँचने में भी काफी समय लग जाता है। फिर उसके बाद भी

कुछ समय जनता को बैठाने और शान्त करने में लगता है। कार्य-क्रम बनाने में हम इन सबकी गुंजाइश नहीं रखते। यदि उन जगहों के लिये, जहाँ सभाएँ होने वाली हैं, गुंजाइश रखें भी तो रास्ते में भीड़ गाड़ी रोक लेगी, और जो जगह कार्य-क्रम में नहीं हैं वहाँ भी अतिथि को कुछ कहने के लिये मजबूर करेगी। इसको तो हम न पहिले से जानते हैं और न इसके लिये कार्य-क्रम में समय ही देते हैं। इसलिये समय पर कहीं भी पहुँचना कठिन हो जाता है।

मैंने महाराष्ट्र की जनता में संयम भी देखा। उन्होंने कार्य-क्रम के विरुद्ध कहीं भी रोका नहीं। न कहीं लोगों ने इस तरह की भीड़ ही की कि व्यर्थ समय नष्ट करना पड़ा। इसका एक सुन्दर नमूना शोलापुर में देखने को मिला। वहाँ लोगों ने स्वागत के लिये बड़ी तैयारी की थी, सारा शहर सजाया था। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि गवर्नमेंट ने जुलूस रोक दिया। कार्यकर्त्ताओं ने हुक्म तो मान लिया पर सब लोगों को मुझे देख लेने का सुन्दर प्रबंध कर दिया। यह सब चन्द घंटों में ही कर दिया गया। लोगों से कह दिया गया कि सब अपने अपने स्थान पर सड़कों पर या दूकानों पर और मकानों में— ठहरे रहें। मुझे उन सभी रास्तों से वे ले जायँगे जिधर से जुलूस निकलने की बात थी। इस तरह लोग मुझे देख भी सकेंगे और लोगों ने जो स्वागत की तैयारी की थी उसे मैं भी देख सकूँगा। लोगों ने प्रबंधकों का आदेश अक्षरशः माना। मैं निवासस्थान से एक खुली गाड़ी में, जो सुगन्धित फूलों से खूब सजाई गई थी, चला। आहिस्ता आहिस्ता उन सभी सड़कों से गुजरा जहाँ जुलूस जाने वाला था। गाड़ी के साथ केवल एक-दो और गाड़ियाँ थीं जो आगे और पीछे चलती थीं। सड़कें और

मकानों तथा दूकानों के बरामदे लोगों से ठसाठस भरे हुये थे। पर कोई अपने स्थान से हमारी गाड़ी के पीछे या बगल में नहीं दौड़ा। गाड़ी धीरे धीरे चली, इसलिये सभी मुझे अच्छी तरह देख सके। गाड़ी के धीरे चलने पर भी इस चक्कर में उससे कम समय लगा जितना जुलूस में लगता। जहाँ लोग चाहते, गाड़ी रोक दी जाती, लोग हार इत्यादि से स्वागत कर लेते। इस तरह मुझे शहर देखने का भी अच्छा मौका मिला। साथ-साथ दौड़ती हुई भीड़ की गर्द से और कान फाडने वाले शोर गुल से मैं एक बारगी बच गया। लोग भी दौड़ धूप के कष्ट से बच गये। गवर्नमेंट ने जुलूस रोका था कि लोग स्वागत में शरीक न हो सकें और भीड़ भाड़ न हो। अच्छी सूझ वाले कार्यकर्त्ताओं की प्रवीणता और जनता के संयम का फल यह हुआ कि लोगों पर जुलूस से जितना असर पड़ता उससे कहीं अधिक असर पड़ा।

सभी जगहों में, हर हालत में, जहाँ गवर्नमेंट की रुकावट न हो वहाँ भी क्या ऐसा नहीं हो सकता? हो सकता है, और अवश्य होना भी चाहिये। हमारे काम करने वालों का बहुत समय भीड़ के सम्हालने में लग जाता है। कुछ मनचले लोग जुलूस का प्रबन्ध बिना किसी अधिकार के अपने हाथों में ले लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि कुछ लोग अतिथि की गाड़ी के साथ-साथ चलते हैं जिससे वह छुप जाता है और बगल में खड़े लोग उसे देख नहीं पाते। तब फिर न देख सकने वाले भी कुछ दूर तक साथ हो जाते हैं। इस तरह जुलूस में गड़बड़ी मच जाती है। इतने लोगों के एक साथ ही चलने से खूब धूल उठती है। साथ के लोग हमेशा नारे लगाते चलते हैं, अतिथि की नाक गर्द से और कान नारे से फटने लगते हैं। वह यदि

मेरे जैसा दमा का मरीज हुआ तो उसे इसका नतीजा अगर उस दिन नहीं तो शीघ्र ही भोगना पड़ता है। जुलूस में अधिक समय लगने के कारण वे लोग, जो अतिथि को देखने की इच्छा से सचमुच दूर से आते हैं, महरूम रह जाते हैं और आगे के कार्यक्रम में भी देर हो जाती है।

मैंने इसी यात्रा में कहीं क्वेटा में भयकर भूकम्प की खबर सुनी। शुरू में कई दिनों तक वहाँ का पूरा हाल नहीं मिला। पर जब तसदीक अखबारों में आने लगी तो मालूम हुआ कि वहाँ की स्थिति भी कुछ बिहार जैसी ही होगी। मैंने एक रिलीफ कमेटी बना दी और मैं ही उसका सभापति बना। रुपये जमा होने लगे। बिहार और क्वेटा में दो बातों का बड़ा अंतर था। क्वेटा का भूकम्प क्वेटा शहर और आसपास के लिये उतना ही प्रलयकारी था जितना बिहार का। पर उसका क्षेत्र बिहार सा विस्तृत नहीं था। क्वेटा एक फौजी छावनी है। इसलिये वहाँ फौज मौजूद थी जो लोगों को मदद पहुँचाने के काम में लगायी गई। पर इसी कारण वहाँ कोई भी गैर सरकारी संस्था काम न कर सकी। अखबारों पर रोक लगा दी गई कि वे सरकारी मंजूरी के बिना कोई खबर न छापें! एक दो पत्रों के साथ, खबर छाप देने के कारण बहुत सख्त व्यवहार किया गया। बाहर के लोगों का वहाँ जाना एकदम बन्द कर दिया गया। इसलिये वहाँ की वास्तविक स्थिति क्या थी, इसका पता किसी को न लगा। जो खबर मिली वह केवल सरकारी विज्ञप्तियों द्वारा ही, दूसरा कोई चारा न था। इस बात को लेकर अखबारों में जोरों की चर्चा हुई। पर सुनने वाला कोई न था! फौज और सरकारी अफसरों ने जो मुनासिब समझा किया। वहाँ के सरकारी कर्मचारियों और फौज के विरुद्ध बहुत तरह की

शिकायतें वहाँ से आये हुए लोगों की जबानी, सुनने में आयीं। पर इनको कोई प्रकाशित न कर सका और न इनकी सच्चाई के सम्बन्ध में किसी ने जाँच ही की। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार वहाँ अखबारों का जाना रोक देना और किसी भी बाहरी आदमी के वहाँ जाने की मनाही कर देना एक अजीब बात है। इससे आम लोगों ने यह अर्थ निकाला कि शिकायतें सही हैं और उन्हीं पर परदा डालने के लिये यह कार्रवाई की गई है। लोगों की इच्छा थी और बहुत संस्थाएँ तैयार थीं कि वहाँ जाकर पीड़ितों की सहायता करें; पर किसी को वहाँ जाने की इजाजत ही न मिली।

वहाँ बहुत से लोग सिन्ध और पंजाब के थे। जो बचे उनमें बहुतेरे सिन्ध और पंजाब वापस आ गये। उन लोगों से ही तरह तरह की खबरें फैलीं। बाहर के लोगों ने ऐसे निराश्रय लोगों की ही सहायता की। इनकी भी सहायता जरूरी थी; क्योंकि इनका सर्वस्व वहाँ खो गया था। बहुतेरों के कारबारी और कमाने वाले कुटुम्बी वहाँ मर गये थे। उनको पहिले तो किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा देना जरूरी था जहाँ वे रह सकें। परन्तु वैसे स्थान में पहुँचने पर भी उनको कोई ठिकाना मिलने की आशा नहीं थी। इसलिये उन्हें कहीं भी ले जाकर कुछ दिनों के लिये उनके रहने और खाने पीने का प्रबन्ध कर देना तथा फिर किसी रोजगार में उन्हें लगा देना जरूरी था। मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं वहाँ जाऊँ और जो थोड़ा बहुत अनुभव बिहार के भूकम्प में काम करने से मिला था उसका लाभ वहाँ के लोगों को देकर उनकी सहायता करूँ। पर गवर्नमेंट ने इजाजत नहीं दी। इस बात पर समाचार पत्रों ने सरकार की निन्दा की पर वह टस से मस न हुई।

मैं कराँची चला गया जहाँ बहुतेरे लोग क्वेटा से भागकर आये थे। सिन्ध के उन शहरों में भी गया जहाँ ऐसे पीड़ित लोगों के आने की खबर मिली। हजारों शरणार्थियों से मुलाकात की। उनकी दुख गाथा सुनी। तब गवर्नमेंट को एक पत्र लिखा। उसमें उन सभी शिकायतों का जिक्र किया जो सुनने में आयीं थीं। वहाँ जाने की इजाजत भी माँगी। इसका उत्तर उस समय के भारत-सरकार के गृह सचिव श्री हैलेट—युक्त प्रान्त के गवर्नर सर मौरिस हैलेट—ने दो सतरों के पत्र में दिया कि इजाजत नहीं मिल सकती और शिकायतों को भी गवर्नमेंट जाँच करने के योग्य नहीं समझती। इसलिये मुझे बाहर से ही सेवा कार्य करना पड़ा। मैं क्वेटा तो नहीं गया। पर कराँची जकोबाबाद, सक्खर, शिकारपुर आदि सिन्ध के शहरों में गया। डेरा गाजी खाँ, मुल्तान, लाहौर इत्यादि पंजाब के शहरों में भी गया जहाँ लोग भागकर आये थे। मैंने सभी जगहों में उनकी सहायता के लिये कमिटियाँ बना दीं। कमिटियों ने उनकी यथासाध्य सहायता की। क्वेटा-रिलीफ कमेटी की अपील पर कई लाख रुपये भी आ गये जिनका वितरण किया। यहाँ सहायता का रूप बिहार से बिलकुल भिन्न था। बिहार में की गई विविध सहायता का वर्णन पहिले किया जा चुका है। यहाँ क्वेटा में हम उस स्थान पर तो पहुँचे ही नहीं जहाँ सहायता की जरूरत थी। इसलिये खास क्वेटा जाकर हम कुछ करने से मजबूर रहे। इधर तो कुछ रुपये शरणार्थियों को खिलाने पिलाने और उनके दवादारू में खर्च हुए। पर अधिक खर्च उनको व्यक्तिगत रूप से कहीं फिर जीवन आरम्भ करने के साधन पहुँचाने में ही किया गया। इस काम का भार सिन्ध में श्री-जयरामदास और पंजाब में डाक्टर गोपीचन्द्र भार्गव ने ही

उठाया। उनके सहायक स्थानीय लोग थे जिन्होंने बड़ी तत्परता से काम किया।

ऊपर कहा गया है कि सफर में ही मुझे क्वेटा की खबर मिली। कुछ दिनों तक तो मैंने दौरा रोका नहीं, पर जब वहाँ की स्थिति की भयंकरता का ठीक पता चला तो मुझे दौरा रोककर उधर जाना पड़ा। उस समय मैं नागपुर में दौरा कर रहा था। उसके बाद ही बरसात के कारण, दौरा रोकना था ही। इसलिये चन्द जगहों पर दौरा ही रोकना पड़ा। बरसात शुरू हो गई। मैं सिन्ध और पंजाब में चला गया। वहाँ बरसात बहुत कम होती है। जो होती भी है वह देर करके होती है। इसलिये कुछ हिस्सा जून का और पूरा जुलाई का महीना उन प्रान्तों में बीता। वहाँ के दौरे के कारण में और कार्य-क्रम में, दोनों में, कुछ फर्क पड़ गया। पर काम जो राजनीतिक दौरे में होता है वह होता ही गया। जहाँ गया वहाँ पहिले अस्पताल में जाकर क्वेटा के घायलों को देखता। फिर उनके लिये जो छावनी बनी होती वहाँ जाता और आश्रयी लोगों से मिलता। वहाँ के लोगों से कुछ रुपये जमा करता। रिलीफ के काम की निगरानी भी करता और सार्वजनिक सभा में भाषण भी। सिन्ध और पश्चिम पंजाब में तो केवल यही काम हुआ। पर जैसे जैसे क्वेटा से दूर, पूरब पंजाब पहुँचता गया दूसरा काम भी कुछ कर सका। इस तरह वे महीने जिन्हें दूसरे दौरे में बरसात के कारण नहीं बिता सकता था सिन्ध और पंजाब में बिताये। वहीं जो कुछ हो सका किया। इस यात्रा में भी विशेष-कर पंजाब में, बहुत करके मोटर पर ही घूमना पड़ा। इसलिये बीच और पूरब के पंजाब में कई जिलों के अन्दर घुसकर वहाँ की हालत अच्छी तरह देख सका।

प्रश्न

१—किस घटना के कारण देशरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद पर महाराष्ट्र की जनता ने संयम की अमिट छाप छोड़ी थी ?

२—क्वेटा के भयंकर भूकंप के विषय में आप क्या जानते हैं ?